हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकरका ९४ वाँ ग्रन्थ

त्याग-पत्र

(मौलिक सामाजिक उपन्यास)

लेखक

जैनेन्द्रकुमार
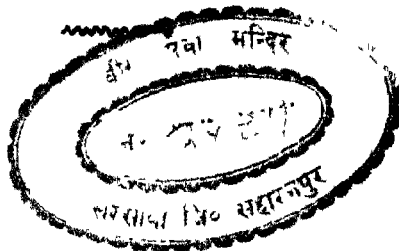
प्रकाशक—

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई

प्रकाशक—
नाथूराम प्रेमी,
हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,
हीराबाग-बम्बई

पहली बार
अक्टूबर, १९३७
मूल्य सवा रुपया

मुद्रक—
रघुनाथ दिपाजी देसाई,
न्यू भारत प्रिंटिंग प्रेस
६ केलेवाडी, गिरगांव बम्बई नं० ४

प्रारंभिक

सर एम० दयाल जो इस प्रान्तके चीफ़ जज थे और जजी त्यागकर इधर कई वर्षोंसे हरिद्वारमें विरक्त जीवन बिता रहे थे, उनके स्वर्गवास-का समाचार दो महीने हुए पत्रोंमें छपा था। पीछे उनके काग़ज़ोंमें उनके हस्ताक्षरके साथ एक पाडुलिपि पाई गई जिसका संक्षिप्त सार इतस्ततः पत्रोंमें छप चुका है। उसे एक कहानी ही कहिए। मूल लेख अँग्रेज़ीमें है। उसीका हिन्दी उल्था यहाँ दिया जाता है।

कहानीमेंसे स्थानों और व्यक्तियोंके नाम और कुछ ऐसे ही ऐहिक विवरण अनिवार्य न होनेके कारण बदल या कम कर दिये गये हैं।

त्याग-पत्र

नहीं भाई, पाप-पुण्यकी समीक्षा मुझसे न होगी। जज हूँ, क़ानूनकी तराजूकी मर्यादा जानता हूँ। पर उस तराजूकी ज़रूरतको भी जानता हूँ। इसलिए कहता हूँ कि जिनके ऊपर राई-रत्ती नाप-जोखकर पापीको पापी कहकर व्यवस्था देनेका दायित्व है, वे अपनी जानें। मेरे बसका वह काम नहीं है। मेरी बुआ पापिष्ठा नहीं थीं, यह भी कहनेवाला मैं कौन हूँ? पर आज मेरा जी अकेलेमें उन्हींके लिए चार आँसू बहाता है। मैंने अपने चारो ओर तरह-तरहकी प्रतिष्ठाकी बाड़ खड़ी करके ख़ूब मज़बूत जमा ली है। कोई अपवाद उसको पारकर मुझतक नहीं आ सकता। पर उन बुआकी याद जैसे मेरे सब कुछको खट्टा बना देती है। क्या वह याद मुझे अब चैन लेने देगी? उनके मरनेकी ख़बर अभी पाकर बैठा हूँ। मुझको नहीं मालूम वह कैसे मरीं। घुल-घुलकर मरीं, इतना तो जानता

हूँ। इतना तो उनकी मौतके दसियों वर्ष पहलेसे जानता था। फिर भी जानना चाहता हूँ कि अन्त समय क्या उन्होंने अपने इस भतीजेको भी याद किया था? याद किया होगा, यह अनुमान करके रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

हम लोगोंका असली घर पछाँहकी ओर था। पिता प्रतिष्ठावाले थे और माता अत्यंत कुशल गृहिणी थीं। जैसी कुशल थीं वैसी कोमल भी होतीं तो—? पर नहीं, उस 'तो—?' के मुँहमें नहीं बढ़ना होगा। बढ़े, कि गये। फिर तो सारी कहानी उस मुँहमें निगल कर समा जायगी और उसमेंसे निकलना भी नसीब न होगा। इतना ही हम समझें कि माँ जितनी कुशल थीं उतनी कोमल नहीं थीं। बुआ पिताजीसे काफ़ी छोटी थीं। मुझसे कोई चार-पाँच वर्ष बड़ी होंगी। मेरी माताके संरक्षणमें मेरी ही भाँति बुआ भी रहती थीं। वह संरक्षण ढीला न था और आज भी मेरे मनमें उस अनुशासनकी कड़ाईके लाभालाभका विचार चला करता है।

पिताजी दो भाई थे और तीन बहन। भाई पहले तो ओवरसियरीमें युक्तप्रान्तके इन-उन ज़िलोंमें रहे। फिर एकाएक उनकी इच्छाके अनुकूल उन्हें बरमा भेज दिया गया। वह तबसे वहीं बस गये और धीमे-धीमे आना जाना एक राह-रस्मकी बात रह गई। इधर वह सिलसिला भी लगभग सूख चला था। दो बड़ी बहनें विवाहित होनेके बाद प्रसव-संकटमें चल बसी थीं। अकेली यह छोटी बुआ ही रह गई थीं।

पिताजी उनको बड़ा स्नेह करते थे। उनकी सभी इच्छाएँ वह पूरी करते। पिताका यह स्नेह उन्हें बिगाड़ न दे, इस बातका मेरी माताको ख़ासा ख़याल रहता था। वह अपने अनुशासनमें सावधान थीं। मेरी बुआको कम प्रेम करती थीं, यह तो किसी हालतमें नहीं कहा जा सकता। पर आर्य गृहिणीका जो उनके मनमें आदर्श था, मेरी बुआको वे ठीक उसीके अनुरूप ढालना चाहती थीं।

बुआका तबका रूप सोचता हूँ तो दंग रह जाता हूँ। ऐसा रूप कब किसीको विधाता देता है। जब देता है तब कदाचित् उसकी क़ीमत भी वसूल कर लेनेकी मन-ही-मन नीयत उसकी रहती है। पिताजी तो बुआकी मोहिनी मूरत-पर रीझ-रीझ जाते थे। ख़ैर उस बातको छोड़ें। मेरी और बुआकी बहुत बनती थी। वह शहरके बड़े स्कूलमें बग्घीमें पढ़ने जाती थीं और घर आकर जो नई शरारतें वहाँ होतीं अकेलेमें सब मुझको सुनाती थीं। 'आज मास्टरनीजीको ऐसा छकाया, ऐसा छकाया, कि प्रमोद, तुझे क्या बताऊँ।' कहकर वह ऐसा ठहाका मारकर हँसती कि मैं देखता रह जाता। उस समय मुझे कहानीकी परियोंका ध्यान हो आता और मैं मुग्ध भावसे अपनी बुआकी ओर आकृष्ट हो रहता।

कहतीं—"और प्रमोद, वह हैं नहीं गणितके मास्टर! शीलाने उनकी कुर्सीकी गद्दीमें पिन चुभोकर रख दी, शीला बड़ी नटखट है। मास्टरकी एक आँख तैंने नहीं देखी, प्रमोद? मास्टर देखते इस तरफ़ हैं तो वह आँख किसी और

ही तरफ़ देखती है। पिन जो चुभी तो खूब बिगड़े, खूब बिगड़े। डपटकर बोले—'यह किसकी शरारत है? वह खड़ी हो जाय।' सब लड़कियाँ सहमी बैठी रहीं। शीला ऐसी हो गई जैसे ऊद-बिलावके आगे मूसी। मास्टरने बेंत फटकार कर कहा—'मैं तुम्हें एक-एकको पीटूँगा।' सचमुच उनको ग़ुस्सा बहुत था। उनका ग़ुस्सा देखकर सब लड़कियाँ एक दूसरेकी तरफ़ देखने लगीं। यह मुझको बुरा लगा। मैंने खड़े होकर कहा—'यह मेरा कसूर है, मास्टरजी।' मास्टरजी पहले तो मुझको देखते रहे। फिर कहा—'यहाँ आओ।' मैं चली गई। कहा—'हाथ फैलाओ।' मैंने हाथ फैला दिया। उस फैली हथेलीपर उन्होंने तीन चार बेंत मारे। मैंने समझा था और मारेंगे। पर जब बेत उन्होने अपने हाथसे अलग कर दिया तो मैंने भी अपना हाथ खीच लिया। सच कहूँ, प्रमोद, मुझे कुछ भी चोट नहीं लगी। मैं उनकी उस आँखकी तरफ़ देख रही थी। मास्टरजी मुझे देख रहे थे, पर वह आँख जाने कहाँ देख रही थी। अरे प्रमोद, तू उन मास्टरको एक बार तो जरूर ही देख। फिर मास्टरजीने चिल्लाकर कहा—'अब तो नहीं करेगी?' मै चुपचाप खड़ी रही और सोचती रही कि एक बार तो मै भी सचमुचका कसूर करके देखूँगी। मास्टरजीने चिल्लाकर कहा—'जाओ।' मैं अपनी जगहपर आ गई। शीला मेरे पास बैठती है। वह मुझे ऐसे देखने लगी जैसे—खा जायगी। मैंने कहा—'दुर, पगली!' उसने एक हाथसे मेरे हाथको वहीं डेस्कपर रक्खे-

रक्खे दबाया। उसकी आँखें बहुत फैली हुई थीं। शीला बड़ी पगली लड़की है। मैंने कहा—'शीला, क्या करती है? देख, मास्टरकी वही आँख तुझे देख रही है।' प्रमोद, तू शीलाको जानता है? शीला बड़ी अच्छी लड़की है। पर नटखट भी है। हम दोनों बहनेली हो गई हैं। पर शीला पगली है। स्कूलसे मैं आने लगी तो और कुछ नहीं तो मेरे गले लगकर रोने लगी। मैंने उसके गालपर चपत मारकर कहा—'क्या है शीला? क्या है?' वह फफक फफक कर रोती रही, बोली कुछ नहीं। प्रमोद, तुझे एक रोज़ शीलाके घर ले चलूँगी। चलेगा?"

कहते-कहते थोड़ी देर बाद एकाएक जाने उन्हें क्या याद आ जाता, चिहुँक पड़तीं। कहतीं—'अरे चल रे चल। नहीं तो तेरी माँ बिगड़ेंगी।' मेरी माँका बुआ सदा डर मानती थीं और उन्हें मेरे सामने सदा 'तेरी माँ' कहा करती थीं।

बुआका पढ़नेमें विशेष मन नहीं था। पर वह किताब-कापियाँ अपनी बहुत अच्छी तरह रखती थीं और स्कूल जानेका उन्हें बड़ा चाव था। स्वभाव बड़ा हँसमुख था और निर्द्वंद्व। बस माँके सामने ज़रा सकुचाई रहती थीं।

बचपनकी बहुत-सी बातें याद आती हैं। वह कैसे मुझे कपड़ा पहनाती थीं, कैसे चपत मार-मारकर खिलातीं, कैसे प्यार करतीं और कैसे अपने भेदकी सब बातें मुझसे कहती थीं—यह सभी कुछ याद आता है।

धीमे-धीमे हम बड़े होते गये और बुआ बुद्धिमती होती

गईं। मुझे उनकी उपस्थितिमें बड़ा ढारस रहता था, और मैं उनके साथके लिए हरवक्त भूखा रहता था। जब वह मुझे मिलतीं बड़े मीठे-मीठे उपदेश दिया करती थीं। 'देखो बेटा, बड़ोंका कहना मानना चाहिए। सबका आदर करना चाहिए। सदा सच बोलना चाहिए। अच्छे लड़के आगे जाकर बड़े आदमी बनते हैं। क्यों भैया प्रमोद, तुम बड़े आदमी नहीं बनोगे?' कभी वह मुझे बेटा कहतीं, कभी भैया कहतीं, कभी कुछ भी और न कहतीं, सिर्फ़ गदहा कहतीं।

वह नवीं क्लासमें थीं या दसवींमे, मुझे ठकि याद नहीं। मेरी बारह वर्षकी अवस्था होगी। मेरा मन उस समय बिल्कुल बुआके बसमें था। वह मुझे सचमुच बहुत प्यार करती थीं। लेकिन तभी मैंने अनुभव किया कि उनके प्यारका रूप बदल गया है। वह मुझे अब उपदेश नहीं देतीं बल्कि अपनी छातीमें लगाकर जाने पार कहाँ देखने लगती हैं। वह अब मुझसे बातें अधिक नहीं करतीं। मैं पूछता—'बुआ, क्या बात है? आज स्कूलमें क्या हुआ?' वह कहतीं—'कुछ नहीं भइया, कुछ नही हुआ।' यह कहकर जैसे उनसे मेरी ओर न देखा जाता। तब मैं हाथ पकड़कर उनकी आँखोमे देखते हुए कहता—'देखो बुआ, तुम हमें कुछ बताती नहीं हो!' इसपर मेरे दोनों हाथोंको अपने बाएँ हाथमें लेकर दाएँ हाथसे मुझे धीरेसे चपत मारकर कहतीं—'हैं न प्रमोद बाबू पागल!'

मैंने उस समय यह भी अनुभव किया कि उन्हें अब एकान्त उतना बुरा नहीं लगता। शामके वक्त छतपर खटोला

छाती ऊपर उड़ती हुई चीलोंको ही चुपचाप देख रही हैं। कभी पतंगोंके पेंच देखती हैं और कटी हुई पतंगपर, जब तक वह ओझल न हो जाय, आँख गाड़े रहती हैं। और नहीं तो खटोलेपर पेटके बल लेटकर कोइलेसे धरतीपर कीरम-काँटे ही खींचती हैं।

मैं ऊपर छतपर पहुँचता तो उन्हें इस भावमें देखकर रुका रह जाता। जब उन्हें आकर मेरे वहाँ खड़े होनेका बोध होता तो चौंकी-सी एकदम कहतीं—'अरे प्रमोद, तू कहाँ था?'

"यहीं था।"

"क्यों रे, तू अब मुझसे बोलता भी नहीं!"

मैं बिना जवाब दिये पास आकर खटोलेपर उनकी बराबर बैठ जाता। वह शनैः शनैः मुझको अपने ऊपर ही लुढ़का लेतीं। कहतीं—'देख, पंतंग देख, पतंग।'

थोड़ी देर बाद कहतीं—'तुझे पतँग अच्छी लगती है?'

म कहता—"हाँ।"

"तू पतँग उड़ाएगा?"

मैं कहता—"बाबूजी, मना करते है।"

इसपर वह एकाएक मुझे अंकमें भरकर उत्साहके साथ कहतीं—'हम तुम दोनों संग पतंग उड़ाएँगे। ऐसी उड़ाएँगे कि खूब दूर! सबसे ऊँची, सबसे ऊँची! उड़ाएगा पतँग?'

मैं कहता—"पैसे दो, मैं लाऊँ।"

वह थोड़ी देर मुझे देखती रहतीं। वह दृष्टि अनबूझ होती थी। मानों मैं उन्हें दीख ही न रहा होऊँ। मुझसे आर-पार होकर जाने वह क्या देख रही हैं। फिर एकाएक शिथिल पड़कर कुछ लजाकर कहतीं—'चल रे, पतंगसे बालक गिर जाते हैं।'

इन्हीं दिनोंकी बात है। एक रोज़ स्कूलसे वह काफ़ी देरसे लौटीं। माँने पूछा—"कहाँ रह गई थी?"

"शीलाके चली गई थी।"

माँ सुनकर चुप हो गईं।

उस दिन बुआ रोज़से अस्थिर मालूम होती थीं। वह प्रसन्न थीं और किसी काममें उनका जी नहीं लगता था। उन्होंने मुझसे तरह-तरहके प्रस्ताव किये, तरह-तरहकी बातें कीं। 'प्रमोद, एक रोज़ नहरके पुल चलना चाहिए। चलोगे?', 'बताओ, तुम्हें मिठाई कौन-सी अच्छी लगती है? घेवर! घेवर भी कोई मिठाई है! छिः।', 'देखो तुम पतंग नहीं लाये न!', 'प्रमोद, मैं शीलाके यहाँ रह गई थी। तेरी माँको कुछ ख्याल तो नहीं हुआ होगा!', 'चल रे चल, प्रमोद, यहाँ क्या, कमरेमें बैठना। चलकर ऊपर हवामें बैठेंगे।—क्यों?' एक बात कहती थीं कि झट भूल जाती थीं। उस समय उनके मनमें ठहरता कुछ नहीं था। न विचार, न अविचार। जैसे भीतर बस हवा हो, और मन हल्का-फुल्का बस उड़-उड़ आना चाहता हो। वह बेबात हँसती थीं और बेबात मुझे पकड़कर इधरसे उधर खींचती

थीं। उस दिन वह मेरी समझमें नहीं आ रही थीं। मैंने कहा—"बुआ, आज क्या बात है?"

बोलीं—"मैं बुआ हूँ? बुआ मुझे अच्छा नहीं लगता। प्रमोद, तू मुझे जीजी कहा कर, जीजी। शीला मुझे जीजी कहती है।"

मैंने कहा—"मेरी तो बुआ हो।"

"मैं नहीं बुआ होना चाहती। बुआ! छीः! देख, चिड़िया कितनी ऊँची उड़ जाती है। मैं चिड़िया होना चाहती हूँ।"

मैंने कहा—"चिड़िया!"

बोलीं—"हाँ, चिड़िया! उसके छोटे छोटे पंख होते हैं। पंख खोल वह आस्मानमे जिधर चाहे उड़ जाती है। क्यों रे, कैसी मौज है! नन्हीं-सी चिड़िया, नन्हीं-सी पूँछ। मैं चिड़िया बनना चाहती हूँ।"

उस रोज़ रातको वह मुझे बहुत देर तक अपनेसे चिपटाए रहीं। पूँछने लगीं—'प्रमोद, तू मुझे प्यार करता है?' सुन कर बिना कुछ बोले मैंने अपना मुँह उनकी छातीके घोंसले-में और दुबका लिया। इसपर वह बोलीं—'प्रमोद, मैं तुझे बहुत प्यार करती हूँ।'

उस रोज़के बाद कई दिन तक उन्हें स्कूलसे आनेमें देर होती रही। एक रोज़ इतनी देर हुई कि नौकरको भेजना पड़ा और वह उन्हें शीलाके घरसे बुलाकर लाया।

उससे तीसरे रोज़की बात है। मैं बाहरसे घरमें आया

था। देखता हूँ कि माँ कहीं झपटीं जा रही हैं। मुझे देखते ही ठिठकीं और असंगत-भावसे पूछ बैठीं—'क्यों रे, कहाँ था?' माँकी मुद्रा देखकर मुझसे कुछ उत्तर नहीं बन पड़ा।

"चल, ला, बेंत तो ला।"

मैं सुन कर वहीं खड़ा रह गया। तब माँने चिल्लाकर कहा—

"सुनता नही है? जाकर बेंत ला।"

मुझे किसी बातका कुछ पता नहीं था। डर था कि मैं ही पिटूँगा। डरते-डरते बाबूजीके कमरेमेंसे उठा लाकर बेंत मैंने दे दिया। इसपर वह बिना कुछ कहे सुने पीछेवाली कोठरीमें लौटकर चली गईं। घुसते ही उन्होंने किवाड़ बंद कर लिये और उसके बाद ही सपासप बेंतसे किसीके पीटे जानेकी आवाज़ मेरे कानोंपर पड़ी। मैं वहीं गड़ा-सा रह गया। बेंतकी पहली चोटपर तो एक चीख़ मुझको सुनाई दी थी, उसके बाद रोने-कलपनेकी आवाज़ मुझे नहीं आई। बेंत तड़ातड़ पड़ रहे थे। मुझे सन्देह हुआ, कहीं बुआ तो नहीं हैं। पर वह संदेह न टल सका, न पक्का ही हो सका। मैं बेबस भावसे वहीं खड़ा रह गया। मन सुन्न पड़ गया था और वह देर मुझे असह्य हो रही थी।

थोड़ी देर बाद माँ दरवाजा खोलकर बाहर आईं। उनके ओठ नीले थे और जिस हाथमें बेंत था वह काँप रहा था। उनका चेहरा मानों राखसे पुत गया था। ऐसा लगता था कि माँ अगले क्षण अपनेको ही बेंतसे न उधेड़ने लगें। मानों अपनेको नहीं मार रही हैं, तो उनपर बहुत ज़ोर पड़

रहा है। वह मेरे सामनेसे होकर अपने कमरेमें चली गई। जाते जाते द्वारपर रुकीं और ज़ोरसे अपने हाथके बेंतको दालानमें फेक दिया। बेंत मेरे पास आकर गिर गया।

मेरी कुछ भी समझमें न आ रहा था। मैं सकपकाया-सा खड़ा था। थोड़ी देर बाद मैं साहसपूर्वक उस कोठरीमें गया। देखता क्या हूँ कि वहाँ बुआ औंधी हुई पड़ी हैं। उनकी साड़ी इधर उधर हो गई है और बदनका कपड़ा बेहद मारसे झीना हो गया है। जगह-जगह नील उभर आये हैं। कहीं-कहीं लहू भी छलक आया है। बुआ गुम-सुम पड़ी हैं। न रोती हैं, न सुबकती हैं। बाल बिखरे हैं और धरतीपर पड़ी दोनों बाँहोपर माथा टिका है। मुझे वहाँ थोड़ी देर खड़ा रहना भी असह्य हो गया। मुझसे कुछ भी नहीं बोला गया। बुआके गलेसे लगकर मै वहाँ थोड़ा रो लेता तो ठीक होता। पर वह संभव न हुआ। मैं दबे पाँव लौट आया।

वह दिन था कि फिर बुआकी हँसी मैंने नही देखी। इसके पाँच-छह महीने बाद बुआका ब्याह हो गया। माँने जल्दी-जल्दी तत्परताके साथ सब व्यवस्था कर दी। बुआका उसी दिनसे पढ़ना छूट गया था। वह उस दिनसे सीने-पिरोने, झाड़ने-बुहारने और इसी तरहके और कामोंमें शांत भावसे लगी रहती थीं। काम करते रहनेके अतिरिक्त उन्हे और किसी बातसे मतलब न था। न किसीकी निगाहमें पड़ना चाहती थीं। कपड़ा कोई धोबीका धुला नया पहनतीं तो उसे जल्दी मैला भी कर लेती थीं। मुझसे वह तब बची-बची

रहती थीं। मुझे तो ऐसा दीखने लगा कि बाबूजीका भी भारी चेहरा हो आया है। वह बुआसे कभी कभी विनोद करना चाहते हैं, पर बुआको उत्तरमें अत्यंत अचंचल देखकर मानों फिर स्वयं अपनेमे मुँह लटका रहते हैं। माँका अजब हाल है। मुझे काम-बेकाम डाँटती फटकारती रहती हैं। नौकरोंको तो बहुत ही झिड़कियाँ सुननी होती हैं। बीच-बीचमें असगत भावसे बड़बड़ाकर जाने अस्फुट भावसे क्या कहती रहती हैं। फिर एकाएक फट पड़ती हैं। मैं सामने हुआ मुझ-पर टूट पड़ती हैं—

"आँखे फाड़कर क्या देख रहा है, प्रमोद? बुआसे लेकर झाड़ू ख़ुद नहीं लगाई जाती? आजकलके लड़के बस काम-चोर होते जाते हैं।"

अथवा कहतीं—

"कहाँ गया है वह बंसी?—नहीं है? नहीं है? सारा काम बेचारी लड़कीको उठाना पड़ता है! अच्छा, एक रुपया जुर्माना! ये नौकर हरामी होते जाते हैं!"

ऐसी बाते हर दिन कुछ न कुछ सुन पड़ती है। पर बुआसे सीधी बात माँ कुछ नहीं कहती।

ऐसे ही ब्याहके दिन आते गये और ब्याह हो गया। विदा होनेसे पहले बुआ कई घंटे अपनी छातीमे मुझे चिपकाए बहुत बहुत आँसू रोती रहीं। समझाने लगीं—"भैया प्रमोद, बड़ोंकी आज्ञा सदा माननी चाहिए। सबका आदर करना चाहिए। सदा सच बोलना चाहिए। अच्छे लड़के ऐसे ही बनते हैं। प्रमोद, तू एक दिन बड़ा आदमी होगा न?"

मैं यों तो काफ़ी बड़ा हो चला था, निरा बच्चा अब नहीं था। तो भी मैं उस समय बुआके उस अंकमें चुपचाप शावक-सा पड़ा रहा।

बुआ बोलीं—"प्रमोद, तेरी बुआ तो मर गई। तू उसे अब कभी याद मत करियो। कैसा राजा भैया है हमारा!"

उस समय मेरी आँखें भीग आई थीं। लेकिन मैंने यह बुआको पता नहीं चलने दिया और मुँह दुबकाए वहीं पड़ा रहा।

बुआके जाते समय मैं खुलकर फूट-फूटकर रोया। मैंने किसीकी शर्म नहीं की। मैंने मचलकर घूँघटवाली बुआका आँचल पकड़ लिया। कह दिया, 'मै बिना बुआके अन्न-जल ग्रहण नही करूँगा, नहीं करूँगा, नहीं करूँगा।' माँसे कह दिया कि 'तू राक्षस है और मैं इस घरमें पैर भी नहीं रक्खूँगा।' इसपर बाबूजीने वहींके वहीं मुझे दो-तीन चपत जमा दिये। पर मैं नहीं उठा, नहीं उठा। आँचल छूटा तो मैं बुआके पैरोंमें लिपट गया। उनके पैरोंके बिछुओंको मैंने ज़ोरसे पकड़ लिया। इसपर बुआने झुककर मुझे पैरोंपरसे उठाया। घूँघटके भीतर उनकी आँखें आँसुओंसे सूजी हुई थीं। बुआने मेरी ठोड़ी हाथमें लेकर मेरे मुँहकी तरफ़ देखते हुए कहा—"प्रमोद, तू मेरी बात नहीं मानेगा? मुझे जाने दे। मैं जल्दी आऊँगी।"

बुआके उस आँसू-भरे मुखड़ेके आगे मेरी हठ बिल्कुल गल गई। मैंने पूछा—"जल्दी आओगी?"

" जल्दी आऊँगी।"

" मेरी कसम खाओ।"

" अपने प्रमोदकी कसम खाती हूँ।"

पास ही माँ खड़ी थीं। उनका मुँह सूखा था। उनको देखकर जी हो आया कि क्यों मैं उनके गले नहीं लग जाऊँ और कहूँ—" माँ! माँ!" उनकी ठोड़ी हाथमें लेकर कहूँ—" मेरी माँ! मेरी माँ!" इतनेमें बुआने मेरे हाथमें एक रेशमका रूमाल थमाया और एक झपटमें वहाँसे चली गई। मैं सँभल भी न पाया था कि द्वारके आगेसे मोटर जा चुकी थी।

२

बुआके चले जानेके बाद मेरा चित्त घरमें नहीं लगा। माँ मुझको समझाती थीं। कभी ऐसा भी होता था कि मैं माँको समझाता था। पर ब्याहकी धूमधामके बाद घरमें एकका सूनापन भी बहुत मालूम होता था।

चौथे रोज़ बुआ आ गई। ब्याहके वक्त मैंने अपने फूफाको देखा था। उनकी बड़ी बड़ी मूँछें थीं और उमर ज़्यादा मालूम होती थी। डीलडौलमे ख़ासे थे। मुझे यह पीछे मालूम हुआ कि उनका यह दूसरा विवाह था। हमारी बुआ फूल-सी थीं। जब वह ससुरालसे आईं मेरे लिए कई तरहकी चीज़ें लाई थीं। उन्होंने मुझे एकान्तमें ले जाकर कहा—"प्रमोद, देखेगा, मै तेरे लिए क्या-क्या लाई हूँ।"

पर मैं उन वस्तुओंको देखनेको इतना उत्सुक नहीं था।

मैं चाहता था कि बुआ मुझसे बातें करें। जैसे पहले सुख-दुखकी बातें करती थीं वैसे अब भी बतावें कि जिस ससुरालसे वह आई हैं वहाँ उनका क्या हाल रहा। चेहरेका रंग उतरा-सा क्यों है? अनमनापन क्यों आज कल उनकी तबीयतमें रहता है? बुआ, मैं वही प्रमोद हूँ। देखो, मैं अब बच्चा नहीं हूँ। तुम कह कर देखो तो, मैं तुम्हारा सब दुख समझ लूँगा। मैं बालक नहीं हूँ, बुआ। जो तुम्हें दुख देता है, उसकी मैं अच्छी तरह ख़बर ले सकता हूँ। मुझे चीज़-बीज़ नहीं देखनी। बुआ मेरी, इस प्रमोदको अपने मनका कुछ हाल नहीं समझाओगी?

बिना बोले मैं उन्हें यह सब कह देना चाहता था। मुझे चुप देख उन्होंने कहा—"क्यों रे, अपनी चीज़ें तू नहीं देखेगा? चुप क्यों है?"

मैंने उनकी तरफ़ देखकर धीमेसे कहा—"दिखाओ।"

बुआ असमंजसमें पड़ गईं। बोलीं—"यह तू बोल कैसे रहा है? क्या हुआ है तुझे?"

मैंने कहा—"कुछ नहीं।"

"फिर क्या बात है?"

मैंने कहा—"तुम मुझे पहले जैसा अब नहीं मानती हो।"

बुआको शायद यह बात छू गई। बोलीं—"कैसा बोलता है रे! पहले जैसा नहीं मानती हूँ तो भला कैसा मानती हूँ?"

"पराया मानती हो।"

यह सुनकर स्तब्ध-भावसे वह मुझे देखती रह गईं। खींच-

कर अपनी गोदमें मुझे लिटा कर बोलीं—"प्रमोद, सच्ची-सच्ची कहूँ तो मैं ही पराई हो गई हूँ। तुम सब लोगोंके लिए मैं पराई हूँ। तेरी माँने मुझे धक्का देकर पराया बना दिया है। पर मुझे जहाँ भेज दिया है, प्रमोद, मेरा मन वहाँका नहीं है। तू एक काम करेगा?"

मैं बड़ी उत्सुकतासे ऊपर उनके मुँहकी ओर देखता रहा। कहना चाहता था कि तुम्हारा काम नहीं करूँगा तो प्रमोद बनकर मैंने यह जनम पाया क्यों है?

"करेगा?"

दुबारा यह प्रश्न सुनकर मैं तत्परतासे उनकी गोदमेंसे उठ बठा। कहा—

"अभी करूँगा, बुआ। कहो।"

वह कुछ देर एकटक मुझे देखती रहीं। फिर लज्जितभावसे मुस्कराकर बोलीं—"नहीं नही, कुछ नहीं।"

मैंने तब उनका हाथ पकड़कर कहा—

"सच-सच बताओ, बुआ। मै ज़रूर करूँगा।"

"शीलाके जायगा?"

"जाऊँगा।"

"जाकर क्या करेगा?"

मैं असमंजसमें उनकी ओर देखता रह गया। वह बोलीं—"नहीं नहीं, मैं हँसी कर रही थी। कोई काम नहीं।"

उसके बाद मानो हठपूर्वक अपनी लाई हुई चीज़ें मुझे दिखाने लगीं। और चीज़ोंमें एक छोटी बंदूक भी थी। वह

मुझे बहुत पसंद आई। बुआने पूछा—"बंदूक तुझे अच्छी लगती है?"

मैंने कहा—"बंदूकसे कौओंको मारा करूँगा। कौए मुझे बड़े बुरे लगते हैं।"

बुआ बोलीं—"बंदूकसे आदमी भी मर जाते हैं, भइया। इसीसे खिलौना लाई हूँ।—मरना क्या होता है, क्यों रे, तू जानता है?"

"जानता हूँ।"

"भला क्या होता है?"

"मर कर आदमी—मर जाता है।"

बुआ हँस आई। फिर चुप हो रहीं। फिर बोलीं—

"मैं मर जाऊँ तो तू क्या करे?"

मैंने कुछ जवाब नहीं दिया, बुआको घूर-घूर कर देखता रहा। मै चाहता था कि वह जान जायँ कि मैं बच्चा नहीं हूँ। मैं सब जानता हूँ। बुआ मौतकी मज़ाक करें यह बिल्कुल ठीक बात नहीं है। वह मर सकती हैं, तो क्या मैं नहीं मर सकता? मैं बड़े मज़ेमें मर सकता हूँ। बुआको यह बिल्कुल मालूम नहीं है कि मैं किस आसानीसे मर सकता हूँ। उनको पता भी नहीं, पर सच्ची बात यह है कि उनके बाद मैं जी ही नहीं सकता, जीऊँगा ही नहीं। लेकिन मैं हूँ तबतक देख लूँगा कि बुआको मारनेवाला कौन है।

अगले रोज़ एक काग़ज लेकर मुझे शीलाके यहाँ भेजा गया। मैं शीलाको जानता था, उसके कोई बड़े भाई हैं यह

२

मैं नहीं जानता था। काग़ज़ उन्हींके हाथमें देनेको कहा गया था। शीलाके बड़े भाई मुझे बड़े अच्छे लगे। मैंने जब वह काग़ज़ उन्हें दिया तब उसे लेकर वह मेरी उपस्थितिको इतना भूल गये कि मुझे अपना अपमान मालूम हुआ। लेकिन फिर उन्होंने मुझे बहुत ही प्रेम किया, चूमा, गोदमें लिया, कंधेपर बिठाया और तरह-तरहकी खानेकी चीज़ें दीं। शीला भी मुझको अच्छी लगी। मेरा जी हुआ कि कोई बहाना हाथ लगे तो मैं यहाँ रोज़ आया करूँ। शीलाके भाईने भी एक चिट्ठी लिखकर मेरी जेबमे रख दी। फिर कहा—'तुम्हारा नाम क्या है? प्रमोद! बड़े बहादुर हो तुम।' यह कहकर धरतीसे उठाकर मुझे चूम लिया। फिर कहा—'यह काग़ज़ अपनी बुआको ही देना। है ना?'

काग़ज मुझे अपनी माँको देनेको कहा जाता तो भी मै पहले बुआको ही देता। मैंने कुछ जवाब नहीं दिया।

शीलाके भाईने चाकलेटके कई पैकेट मेरे कोटकी दोनों जेबोमें ठूँस दिये। कहा—"तुम बड़े अच्छे लड़के हो। कौन-सी क्लासमें पढ़ते हो?"

"सेविन्थ क्लास।"

"सेविन्थ क्लास! खूब! प्रमोद, जाकर कहना मैं अभी एक महीना यहीं हूँ। समझे?"

मै खूब समझ गया था।

"क्या समझे?"

"—मैं एक महीना यहीं हूँ।"

शीलाके भाई इसपर खूब हँसे—

"तुम नहीं भाई,—मैं, मैं, मैं!"

जो ख़त दिया था वह लिफ़ाफ़ेमें बंद नहीं था। बुआने भी ऐसे ही काग़ज़ मोड़कर दे दिया था। पर शीलाके भाई मुझको इतने अच्छे लगे कि मैं उनकी लिखावटकी सुंदरता देखना चाहता था। मैंने उसे खोलकर देखा। उसके अक्षर मुझे बहुत ही सुंदर मालूम हुए। मैंने सोचा कि मैं भी कभी ऐसी सुंदर अँग्रेजी लिख सकूँगा या नहीं। खतके ऊपरका My dear तो मुझको इतना अच्छा लिखा मालूम हुआ कि बहुत दिनों तक अपने पत्रोंके My dear को मैं वैसा ही बनानेकी कोशिश करता रहा। घर आकर मैंने पत्र सीधा बुआको दे दिया और वह उसको खोलकर तभी पढ़नेमें लग गईं। खत बड़ा नहीं था। लेकिन कई मिनट तक वह उसे पढ़ती रही। यह भी भूल गईं कि प्रमोद भी उनका कोई है और इस वक्त वह पास ही खड़ा है। काफ़ी देरके बाद उन्होंने वहाँसे आँख हटाई, ख़तको धीमे धीमे तह किया और मुझको देखा—मानों उस वक़्त मुझे वह पहचान नहीं रहीं थीं। मानों सब भूल गईं कि क्या था, क्या है, क्या होगा। फिर उसी बेबूझ भावसे मुझे देखते रहकर मानों यंत्रकी भाँति उस ख़तको फाड़कर नन्हे नन्हे टुकड़ोंमें कर दिया। मानों वह कुछ नहीं कर रहीं, जाने कौन करा रहा है। हलके-हलके चैतन्य उन्हें लौटा। मानों उन्होंने अब कुछ-कुछ जगत्‌को पहचाना। थोड़ी देर बाद बोलीं—" प्रमोद, अब तू वहाँ कभी मत

जाना। तुमसे जवाब लानेको किसने कहा था? कभी किसीका कोई खत लानेकी जरूरत नहीं है। समझा?"

मैं कुछ भी नहीं समझा था।

वह बोलीं—"तू इतना अनसमझ क्यों है प्रमोद! तू नहीं जानता कि मेरी शादी हो गई है?"

मैंने कहा—"मैं जानता हूँ, जानता हूँ।"

बोलीं—"तू कुछ नहीं जानता। तू गधा है। मेरे दिलमें आग लग रही है।—"

मैं चुप था।

"—तू जानता है दिलकी आग क्या होती है?"

किसी दिलकी आगको सचमुच मैं नहीं जानता था। लेकिन उस समय बुआको देखकर, उनकी उस क्षण-भरमें होकर उसी क्षण बुझ जानेवाली अनबूझ मुस्कानको देखकर मेरे मनकी पीड़ा बहुत घनी हो गई थी। मनमें होता था कि किस तरह मैं उनके काम आ जाऊँ कि उनका जी हलका हो। और नहीं तो उनके गले लगकर फूट ही पड़ूँ।

उन्होंने कहा—"देख प्रमोद, शीलाके भाईका कोई पैग़ाम आया कि मैं छतसे गिरकर मर जाऊँगी। मुझे उन्होंने क्या समझा है?"

मैं कहना चाहता था कि शीलाके भाईने कहा है कि वह अभी एक महीना यहीं हैं और कि वह मुझे बड़े अच्छे मालूम होते हैं। लेकिन तभी बुआने कहा—"जाकर यह शीलासे कह देना। मैं सच कहती हूँ, मैं मर जाऊँगी। मृणालका क़ौल झूठा नहीं होता।"

बुआने यह ऐसे कहा कि मानों अभी काफ़ी नहीं हुआ, अभी तो और भी पक्की तौरपर अपनेको समझाना है कि ऐसी हालतमें मरना ही होगा, कुछ भी अन्य सोचना विचारना न होगा।

उस समय उनको घरपर बस चार पाँच रोज़ ही रहना था। उसके बाद फूफा आएँगे और वह उन्हें ससुराल ले जाएँगे। ससुराल जानेके बारेमें वह उत्साहित नहीं मालूम होती थीं। ज्यों ज्यों जानेका दिन आता उनकी निगाह कुछ बँधती-सी जाती थी। जहाँ देखतीं, देखतीं रह जाती थीं। जैसे सामने उन्हें और कुछ नहीं दीखता, बस भाग्य दीखता है, और वह भाग्य चीन्हा नहीं जाता। ऐसी अपेक्षित पूछती-हुई-सी निगाहसे देखतीं मानों प्रश्न रोककर भी उत्तर माँगती हों कि 'मैं कुछ चाहती हूँ, पर अरे कोई बतायगा कि क्या?—'

अगले रोज़ फूफा आनेवाले थे। रातसे बुआकी तबीयत गिरी-गिरी हो रही थी। अपनी कोठरीमें एक अनबिछे तख़्तपर लेटी थीं। मुझसे बोलीं—"प्रमोद, कल मैं चली जाऊँगी।"

मैं चुप रहा। सिर दाब रहा था, दाबता रहा।

बोलीं—"अब रहने दे।"

मैंने कहा—"दवा तो तुम खाती नहीं हो—"

सुनकर मेरी ओर उनकी दृष्टि बँध गई। कुछ रुककर बोलीं—

"एक काम करेगा, प्रमोद? शीलाके भाई डाक्टरी पढ़ते हैं। मैं दवाका नाम लिख देती हूँ। तू उनसे ले आयगा?"

मैं क्यों न ले आता ? उन्होंने कागज़पर अँग्रेज़ीमें एक नाम लिखकर दे दिया और मैं उस पुर्ज़ेको लेकर दौड़ गया।

पर उस पुर्ज़ेको लेकर तो जैसे शीलाके भाई एकाएक मुझे पीटनेको उतारू हो गये। धमकाकर बोले—"यह क्या है?"

"बुआने दवाई मँगाई है।"

"दवा?"

"हाँ दवा। उनके सिरमें दर्द है।"

शीलाके भाईने आगे कुछ नहीं कहा। वह ज़ोर ज़ोरसे कमरेमें इधरसे उधर टहलने लगे। कागज़ तुड़-मुड़कर उनके हाथोमें चिन्दी हो गया। उस कागज़की चिन्दीपर उनकी चुटकी सख़्तीसे कस गई। ऐसी कि उनके हाथोकी नसोंका तनाव देखकर मेरे मनमें जाने क्या क्या भाव होने लगे।

कुछ देर बाद मैंने साहसपूर्वक पूछा—"मै जाऊँ?"

शीलाके भाई यह सुनकर टहलते-टहलते रुक गये। मुझे देखकर विनम्रभावसे वह बोले—"मैं चलकर उनकी तबीयतका हाल देख नही सकता हूँ? प्रमोद, मुझे ले चलोगे?"

मैंने कहा—"नहीं। जीजी छतसे गिरकर मर जाएँगी।"

इसपर उन्होंने कुछ नहीं कहा। मैंने पूछा—"दवा नहीं दीजिएगा?" उन्होने मेरे मुँहपर मानों ललकारकर कहा—"दवा?"

"नहीं दीजिएगा तो मै जाऊँ।"

इसपर उन्होंने अपनी चुटकीसे दबी कागज़की गाँठको खोला और दोनों हाथोंके ज़ोरसे उस छोटेसे कागज़के हजारों टुकड़े कर डाले। और फिर उन सबको गुड़ीमुड़ी करके

मेरी तरफ़ फेंक दिया। कहा—"यह है दवा। जाओ, ले जाओ।"

इसके बाद किसी विशेष बात होनेकी मुझे याद नहीं। अगले रोज़ फूफा आये। मेरा मन उनकी तरफ़ खुला नहीं। न उन्होंने ही मुझे कुछ पूछा। बूआकी तबीयत कुछ विशेष गिर गई थी। लेकिन शिकायत कोई खास न थी। फूफाने सफ़रकी सब सुख-सुविधाका प्रबन्ध कर दिया है; बुआको तनिक कष्ट न होगा; यहाँसे जगह तीन सौ मील ही है तो; मोटरमें जाएँगे; न हुआ तो रास्तेमे दो-एक जगह पड़ाव कर लेंगे; डाक-बंगले जगह जगह हैं ही; पिता जी निश्चित रहें कि फूफा हमारी बुआको ज़रा भी किसी तरहकी तकलीफ़ न होने देंगे।

पिताने कहा—" अच्छा अच्छा। लेकिन—"

फूफाने कहा—"जी आप बिल्कुल फ़िक्र न कीजिए। उन्हें तकलीफ़ किसी क़िस्मकी न होगी।"

पिताने कहा—"उसकी तबीयत ज़रा—"

फूफाने बताया—"यहाँकी आबोहवा किसी क़दर—। ज़रा तबदीली चाहिए। सितम्बर शुरू हुआ कि काश्मीर जानेका इरादा रखता हूँ। सितंबर अक्टूबर काश्मीरके आइडियल महीने हैं। गुलमर्गकी हवा वह है कि—"

अगले रोज़ फूफा पूरे इन्तज़ाम और प्रेमके साथ बुआको लिवा ले गये।

३

उसके कुछ दिन बाद हम लोगोंको इधर पूरबकी तरफ आना पड़ा। मैं वहाँ स्कूलमें दाख़िल हुआ और एक क्लास ऊपर चढ़ गया। बुआ मुझे भूलती न थीं। उनके ख़त आते थे पर वे संक्षिप्त होते थे। माँसे मालूम होता था कि बुआ अच्छी हैं और ख़तमे और कुछ नहीं लिखा है। बाबूजीसे बुआकी चर्चा चलाता तो वह अधिकतर चुप रह जाते थे। उनका मन सुखी नहीं था। मेरी समझमें कुछ भी नहीं आता था। मैं कहता—"बाबूजी, मुझे भेज दीजिए। मैं बुआको ले आऊँगा।"

वह दिलचस्पी लेकर कहते—"तू जायगा?" लेकिन देखते-देखते वह सब दिलचस्पी लीन हो जाती और कहते —"कहाँ जायगा तू? मृणाल तो अपने घरकी है। अपने सुखसे रहे। हमे क्या।"

ब्याहके कोई आठ-दस महीने बादकी बात होगी। देखते क्या हैं कि बिना कुछ खबर दिये बुआ एक नौकर लड़केके साथ घर चली आई है। पिताजी इस बातसे अप्रसन्न हुए। पर क्या वह प्रसन्न भी नहीं हुए? माँने कोई नाराजगी नहीं प्रकट की। बल्कि उन्होंने तो परोक्षमें फूफाको काफ़ी सर्द-गर्म तक कह डाला।

बुआ आई तो मेरे तो पुराने दिन ही लौट आये। पर मैं देखता कि बुआमें बहुत परिवर्तन होता जाता है। उनकी तबीयत थिर नहीं है। इस घड़ी खुश बोल रही हैं तो अगली

पड़ी अँधेरेमें अकेले जाकर चुप पड़ जाती हैं । उनकी शारीरिक अवस्था भी ठीक नहीं थी । सारी देह पीली पड़ी थी और उनको गर्भ था । जी मिचलाया रहता था और खाना-पीना कुछ अच्छा नहीं लगता था । हर बातसे अरुचि मालूम होती थी । मैंने अकेलेमें उनके पास बैठकर पूछा—"अब तो यहीं रहोगी न बुआ ? जल्दी तो नहीं जाओगी ?"

बुआने कहा—"नहीं जाऊँगी । पर मुझसे आने जानेकी बात क्यों करता है ? अपने पढ़ने-लिखनेकी बात किया कर ।" कहते-कहते आँखें उनकी जाने कैसी हो आईं थीं और वाणी काँपकर रुकना चाहती थी ।

मैंने अपनी समझमें जाने क्या कुछ समझकर कहा—"तो बुआ, वहाँ जानेकी कभी जरूरत नहीं है । मैं नहीं जाने दूँगा ।"

बुआने कहा—"भला किस ज़ोरसे नहीं जाने देगा ?"

"बस कह दिया, नहीं जाने दूँगा ।"

बुआ व्यंगमें हँसीं—

"तू रोकनेकी बात करता है तो पहले क्यों नहीं रोक लिया था ? अब किया कुछ नहीं हो सकता ।"

उनकी उस समयकी मुद्रा देखकर मुझे जोश हो आया । बोला—"क्यों कुछ नहीं हो सकता ? सब कुछ हो सकता है । देखूँ फूफा कैसे ले जाते हैं ।"

बुआने कहा—"बड़े वीर बनते हो प्रमोद । पर इस बारेमें बुआसे क्या कुछ भी पूछनेको नहीं है ? वह बुआ, यहाँकी

नहीं है, वहींकी है। अपने फूफाकी चीज़को छीननेवाले तुम होते कौन हो ?"

मैं उन सारी बातोंके मर्मको नहीं समझ सका था। लेकिन बुआकी वाणीकी वेदना मुझे छुए बिना न रहती थी। मैं जान गया था कि अपनी ससुरालकी यादपर उन्हें कष्ट होता है। लेकिन फिर इसमें दुविधाकी क्या बात है। वह जगह नहीं पसंद है तो वहाँ न जायँ। बस।

लेकिन जिस आसानीसे मैंने 'बस' कह दिया वैसी सरल बात नहीं थी, यह मैं आज खूब अच्छी तरह जानता हूँ। विवाहकी ग्रन्थि दोके बीचकी ही ग्रन्थि नहीं है, वह समाजके बीचकी भी है। चाहनेसे ही वह क्या टूटती है ? विवाह भावुकताका प्रश्न नहीं, व्यवस्थाका प्रश्न है। वह प्रश्न क्या यों टाले टल सकता है ? वह गाँठ है जो बँधी कि खुल नहीं सकती, टूटे तो टूट भले ही जाय। लेकिन टूटना कब किसका श्रेयस्कर है ? पर आठवीं क्लासका विद्यार्थी मैं यह सब नहीं जानता था। इसलिए उस समय अति-सम्पूर्ण भावसे मैंने बुआको आश्वासन दे दिया कि वह सदा इसी घरमें रहेंगी। देखूँ कौन फूफा होते हैं जो ले जायँ। ऐसा मन न करो, बुआ। फ़िकर क्या है। यह प्रमोद बड़ा होकर खूब कमाएगा और तुम्हारी खूब सेवा करेगा और तुम्हें कुछ कष्ट न होने देगा।

बुआको बिल्कुल भी मेरी बातोंसे ढारस नहीं हुआ यह भी मैं नहीं कह सकता। तब क्या उनके मुखपर हठात् कुछ

संतोषकी आभा नहीं आ झलकी थी? हलके हँसकर बोलीं—
"तू ऐसा वीर है, प्रमोद, तो मेरी नैया पार लग जायगी।
क्यों? अब यह बता कि तू अपनी क्लासमें अव्वल है या नहीं?"

अव्वल हूँ कि फिसड्डी होऊँ, लेकिन उस समय तो मैं यह देखना चाहता था कि बुआके मनमें कोई चिंता-क्लेश नहीं रह गया है। मैने पूछा—"तुम सच बताओ, वहाँ जाना चाहती हो या नहीं?"

बुआने कहा—"सच बताऊँ?"

"हाँ, बिलकुल सच-सच बताओ।"

बुआने हँसकर कहा—"क्यों सच-सच बताऊँ?"

मैंने नाराज़ होकर कहा—"नहीं बताओगी?"

बोलीं—"अच्छा, सच-सच बताती हूँ। मैं तेरे साथ रहना चाहती हूँ। रक्खेगा?"

यह कहकर उन्होंने ऐसे देखा कि मैं झेंप गया और तब उन्होंने मुझे खींचकर अपनी गोदमें ले लिया। फिर एकाएक मुझे अपनेसे चिपटाकर बोलीं—"एक बात बता। तुझे बेंत खाना अच्छा लगता है?"

मैंने कहा—"बेंत!"

बोलीं—"मैं एक बार तुझे बेंतोंसे पीटना चाहती हूँ। देखूँगी, तुझे कितना अच्छा लगता है।"

बुआ अजब तरीक़ेसे बातें कर रही थीं। मैंने कहा—"ये कैसी बातें कह रही हो?"

बोली—"सच-सच कहती हूँ, प्रमोद। किसी औरसे नहीं कहा, तुझे कहती हूँ। बेंत खाना मुझे अच्छा नहीं लगता। न यहाँ अच्छा लगता है, न वहाँ अच्छा लगता है।"

मैं आश्चर्यमें रह गया। बोला—"क्या कहती हो बुआ! वह मारते हैं?"

"हाँ मारते हैं।"

"बेंतसे मारते हैं?"

"हाँ, बेंतसे मारते हैं।"

"क्यों मारते हैं?"

"मैं ख़राब हूँ, इस लिए मारते हैं।"

सुनकर मुझसे उस समय बुआके चेहरेकी ओर देखा नहीं गया। आवेगसे भर कर मैंने अपना मुँह उनकी छातीमें दुबका लिया। वहाँ दुबका हुआ मैं चाहने लगा कि बुआको अपनी गोदमें ले लेता और धीमे धीमे उनके माथेपर थपकी देकर कहता—'वह सब भूल जाओ, बुआ। बुरा-ख़राब सब भूल जाओ। वह भी जगह है जहाँ कोई खराब नहीं है और जहाँ कोई बेंत नहीं है। हम दोनों वहीं चलकर रहेंगे।' यह सोचता हुआ मैं बुआकी छातीमें चिपका रहा। मुझे मालूम हुआ कि बुआके मनमें उच्छ्वास भर आया है और उनकी आँखोंकी एकाध बूँद भी मुझपर गिरी।

मुझे सारी बातें ज्ञात नहीं, लेकिन पिता और फूफामें कुछ पत्र-व्यवहार हुआ था। पत्र-व्यवहार काफ़ी लम्बा हुआ। तीन महीने बुआ हमारे ही यहाँ रहीं। अंतमें निर्णय हुआ कि

फूफ़ा उन्हें ले जा सकते हैं। पिता शायद इस बातके लिए तैयार हुए थे कि अगर आइंदा इस तरह बुआ बिना फूफाकी मर्ज़ी चली आएँगी तो वह अपने घरमें आश्रय न देंगे। फूफाने पिताके सामने अपनी पत्नीपर कुछ अभियोग भी लगाये थे जिनको फिर उन्होंने क्षमा-प्रार्थना-पूर्वक वापिस भी ले लिया था।

एक बार मैं बाबूजीके पास था। तभी बुआ वहाँ आई। आकर चुपचाप एक तरफ एक बिछे तख़्तपर बैठ गईं।

बाबूजीने कहा—"मृणाल, कहो कैसी तबीयत है?"

"अच्छी है।"

"यहाँ शायद तुम्हारा मन नहीं लगता मालूम होता है।"

मृणाल चुप।

"उनकी इस इतवारको आनेकी चिट्ठी आई है। पाँच रोज़ हैं। मिनी, देखो अब ऐसी ग़लती मत करना। वह आदमी भले हैं इससे बात बन भी गई। नहीं तो बेटा, ऐसा किया करते हैं? थोड़ी बहुत लड़ झगड़ होती ही है। पर पतिके घरके अलावा स्त्रीको और क्या आसरा है? यह झूठ नहीं है, मृणाल, कि पत्नीका धर्म पति है। घर पति-गृह है। उसका धर्म, कर्म और उसका मोक्ष भी वहीं है। समझती तो हो बेटा।"

कहते-कहते पिताकी वाणी क्षमाप्रार्थिनी हो गई थी। बुआ चुप बैठी रहीं। थोड़ी देर बाद पिताने कहा—"कहो, कहो, मृणाल! तुम कुछ कहना चाहती हो?"

बुआने कहा—"मेरा जी अच्छा नहीं रहता है। मैं अभी जाना नहीं चाहती हूँ।"

"अभी नहीं जाना चाहती हो?"

मृणाल चुप।

"लेकिन वह तो अभी ही ले जाना चाहते हैं।"

चुप।

बाबूजी इस चुप्पीपर कुछ अस्थिर हो आये। उन्होंने पहले तो मुझे देखकर कहा—'जाओ, प्रमोद, अपना सबक देखो।' मै तुरंत नहीं उठ गया, इसपर नाराज़ होकर बोले, 'सुनते नहीं हो? जाओ।' मैं कमरेसे तो बाहर आ गया लेकिन पूरी तरह चला नहीं गया। उसके बाद पिताजीने कहा—"सुनो मृणाल, अभी भेजनेकी मेरी भी राय नहीं थी। तुम्हारी हालत नाज़ुक है। लेकिन तुम्हीं बताओ, मै क्या करूँ?"

मृणाल कुछ नहीं बोली।

बाबूजी कमरेमे टहलने लगे। कुछ देरतक वह भी कुछ नहीं बोले। फिर कहा—'मिनी, सच बताओ, क्या बात है?' यह कहकर कुछ ठहरे, मृणाल चुप रही, तो फिर टहलने लगे। एकाएक रुककर बोले—'मृणाल, मैं देखता हूँ, तुम्हे तकलीफ़ है। बताओगी नहीं तो मैं कैसे जानूँगा? क्या करूँगा? मिनी, तुझे पिताजीकी तो क्या याद होगी। तू नन्ही-सी थी तभी पिताजी उठ गये। माँ तो तैने देखीं ही कब हैं। सबकी जगह मैं ही तेरे लिए रह गया। मुझसे न कहेगी तो किससे कहेगी? मृणाल, बेटा, सच बता क्या बात है।'

बुआने कहा—"कुछ भी बात नहीं है बाबूजी, पर मैं जाना नहीं चाहती हूँ।"

"जाना नहीं चाहती हो, यह तो मैं देखता हूँ। पर भला ऐसा कहीं होता है। और कबतक नहीं जाओगी ?"

"बिल्कुल नहीं जाऊँगी।"

बाबूजीने कुछ झींककर कहा—"तो क्या करोगी ?"

"आप यहाँसे निकाल देंगे तो यहाँसे भी निकल जाऊँगी।"

बाबूजीको इसपर रोष हो आया। बोले—

"कहाँ निकल जाओगी ?"

"पिताजी मुझे नन्हीं छोड़ जहाँ चले गये हैं, कोई राह बता दे तो मैं वहीं जाना चाहती हूँ।"

इसके बाद मुझे कुछ नहीं सुनाई दिया। पिताजीके फ़र्श-पर ज़ोर-ज़ोरसे चलनेकी आवाज़ मुझे अवश्य आई। दो एक बार खाँसनेकी भी आवाज़ आई मानों कुछ बार-बार गलेमें भर आता हो। दो-तीन-चार-पाँच मिनट मैं प्रतीक्षामें रहा। पिताजीके तेज़ कदमोंकी धमक, खाँसी और कभी ज़ोरसे उठता हुआ उनका उच्छ्वास ही मुझे सुनाई दिया। आख़िर मैं वहाँसे खिसक कर चला आया।

इसके बाद मिलनेपर मैंने बुआसे पूछा—"बुआ, पिताजी भेजनेको कहते हैं ?"

बुआने डपटकर कहा—"चुप रहा करो जी, प्रमोद, अपने कामसे काम रक्खा करो।"

मुझे उनका यह गुस्सा बिल्कुल समझमें नहीं आया। मैं भी

उस दिन तुनककर अपने अलग-अलग रहा। पर संध्या समय अचानक वह मुझे अपने गले लगाकर रोनेको हो आईं। बोलीं—"तू रूठ गया प्रमोद?"

थोड़ी देर बाद अपने आप कहने लगीं—"बाबूजी मुझे भेजनेको कह रहे हैं। चली जाऊँ?"

मैं क्या जवाब देता।

उन्होंने मेरे कंधेपर हाथ रखकर कहा—"मुझे चले जाना चाहिए, क्यों प्रमोद?"

मुझे चुप देख फिर वह बोलीं—"अच्छा जाने दे इस बातको। यह बता, मैं चली गई तो तू मुझे याद करेगा?"

उस समय मैंने कहा—"बुआ, मैं तुम्हें पीछे बहुत याद करता था।"

"मर जाऊँ, तो भी याद करेगा?"

मैं तब समझदार था। कहा—"ऐसी बात मत करो, बुआ। मैं नहीं सुनता चाहता।"

"अच्छी, एक बात बता। तू बड़ा हो जायगा तब मैं बुलाऊँगी तो तू आयगा?"

"फ़ौरन आऊँगा।"

"कैसी भी हालतमें हुई, तू आयगा?"

"हाँ, आऊँगा।"

"तो सुन, मैं कहती हूँ तू नहीं आयगा। मैं तुझे बुलाऊँगी ही नहीं। कहती हूँ, तुम सब लोग मुझे भूल जाना। मैं जैसी गई वैसी मरी। इसके बाद मैं तुम लोगोंको बिल्कुल तकलीफ़ नहीं दूँगी।"

थोड़ी देर बाद बुआने मुझसे पूछा—तू जानता है, पतिका घर क्या होता है ?

मैंने कहा कि मैं नहीं जानता।

स्वर्ग होता है।

मैंने मान लिया कि स्वर्ग होता होगा।

लेकिन मेरे इस सहज भावसे मान लेनेसे उन्हें जैसे सान्त्वना नहीं हुई। बोलीं—

"वह तो स्वर्ग ही होता है। जिसके लिए ऐसा नहीं है, वही अभागिनी है।"

मुझे चुप देख, वह आगे बोलीं—

"जानता है, स्वर्ग क्या होता है ?"

जल्दीसे अपने आप ही बोलीं—स्वर्ग बड़े आरामकी जगह होती है। वहाँ देवता रहते हैं।

अगले सवेरे उनकी अवस्था बिल्कुल प्रकृतिस्थ मालूम होती थी। उन्होंने माँसे कहा कि धोबीके कपड़ोंके लिए कह दें, इतवार तक आ जायँ, क्यों कि फिर जाना है। दो-चार छोटी-मोटी चीज़ें भी बाज़ारसे मँगानेको कहीं। उस समय वह अपने सामानको ठीक सँगवानेमें प्रवृत्त दीखने लगीं। इस बक्सका सामान उसमें हो रहा है, उसका इसमें हो रहा है। इस बार पुस्तक कोई साथ नहीं ले जायँगी। पुस्तकें अच्छी चीज़ नहीं होतीं। 'उन्हें' अच्छी नहीं लगतीं। उनसे समय बरबाद होता है। नहीं, इस बार न नई न किसी प्रकारकी पुरानी किताबें बुआको चाहिएँ।

दोपहर तक वह इसी प्रकार प्रवृत्त दीखीं। फिर खाना खाकर जो लेटीं तो सिरमें ज़ोरका दर्द हो आया। मैंने कहा—"बुआ क्या है?"

बोलीं—"सिरमें दर्द है।"

"माथा दाब दूँ?"

"नहीं।"

"बाम लगा लो।"

"नहीं।"

"यू-डि-कलोनकी पट्टी लाता हूँ—"

"अरे नहीं-नहीं-नहीं—"

मालूम हुआ कि उन्हें दो-तीन रोज़से सख़्त क़ब्ज़ है। पेट पत्थर हो रहा है।

मैंने कहा—"डाक्टर—"

बोलीं—"कोई डाक्टर-फाक्टर नहीं।"

मैंने कहा—"फिर—?"

बोलीं—"सब ठीक हो जायगा।"

दर्द बढ़ता ही गया। तीसरा पहर होते होते छटपटानेकी नौबत आगई। लेकिन वह अकेली पड़ी रहीं, किसीको पास नहीं बुलाया। मैं कई बार बाबूजीको कहनेको उद्यत हुआ, पर बुआने ऐसी झिड़की दी कि मेरी हिम्मत न हुई। अब उनको पेटमें भी तकलीफ़ मालूम होती थी। दर्द रह-रहकर उठता था, जैसे कोई भीतर बैठा दम ले लेकर आँतें ऐंठ रहा हो। दर्दके मारे उनकी आकृति भयंकर हो उठती थी।

मैं नहीं जानता कि मैं किस प्रकार सब सह गया और खबर किसीको न दी। मैं कहने जानेको उद्यत होता था और वह अपनी क़सम दिलाकर मुझे रोक लेती थीं। कहते कहते कह उठतीं कि तुझे मेरी मौतका ही पातक लगे जो तू किसीसे कहे।

मैंने कहा—फिर कैसे होगा?

बोलीं—पेटका दर्द है, अपने आप सब साफ़ हो जायगा। देख, बाज़ार जाय तो ज़रा जमालगोटा ले आना। याद रहेगा—जमालगोटा?

मैं अब बुआके बारेमें शंकित-चित्त हो गया था। पूछा, यह क्या चीज़ होती है?

इस दर्दमें भी तनिक हँसकर उन्होंने कहा—तू अकलमंद हो रहा है, प्रमोद। पर वह मरनेकी चीज़ नहीं होती है। ले तो आयगा न?

मैंने पूछा—उससे तबीयत ठीक हो जायगी?

"हाँ, हो जायगी। जायगा?"

जमालगोटेके सेवनसे उनकी तबीयतका जो हाल हुआ वह कहना वृथा है। माता पिता दोनों चिन्तित हो गये। मैंने भयके मारे कुछ नहीं कहा। आशंका हो गई कि कहीं गर्भ न जाता रहे। वह तो न गया; पर और सब कुछ हो गया। तीन रोज़में उनका ऐसा मुँह निकल आया कि तरस आता था। जैसे मर कर जियी हों। करुणा होती थी, लेकिन करुणा हद लाँघकर क्रोध हो जाती है क्या? गुस्सेमें भरकर

मैंने बुआको खूब सख्त सुस्त कहा। सुनती रहीं, सुनती रहीं; फिर वह बोलीं—तू भी मुझे ही कहेगा, प्रमोद ?

"और नहीं तो किसे कहूँगा !"

"अच्छा ! तू भी कह ले।"

बुआने कुछ ऐसे भावसे यह बात कही कि मेरा काठिन्य अपनेमें ही कुंठित हो रहा। मैं कातर हो आया। कहा—फिर यह तुमने क्या किया बुआ ?

"क्या किया ?"

"मै जानता हूँ, जो हुआ है तुमने ही किया है।"

इसपर कुछ देर बँधी निगाहसे मेरी ओर देखते रहकर बोलीं—सच जान, प्रमोद, मैंने कुछ नहीं किया। मेरी मति भ्रष्ट हो गई है। मुझे कुछ ठीक सूझता नहीं है। मै जो करती हूँ क्या जानती हूँ ? यहाँ मुझे कोई भी तो बतानेवाला नहीं है। अपने मनकी मैं किससे कहूँ ! प्रमोद, मेरी कुछ समझमें नहीं आता है। ऐसेमें तू भी मुझे दोष देगा तो मै क्या करूँगी ?

उनकी बातका मर्म मेरी कुछ समझमें न आया। पर मेरा मन बिथासे घिर गया। मैंने कहा—तुम क्या चाहती हो ?

"क्या चाहूँ ?"

"अपने तनको क्यों खोती हो ?"

"तनको खोती हूँ ?—मैं नहीं जानती। अच्छा बताओ, तनका क्या करूँ ?"

मुझे बड़ा कष्ट हो रहा था। कष्ट कुछ ऐसा था कि केन्द्र-हीन, अहेतुक। मैंने कहा—देखो, बुआ। तुम बाबूजीसे

मजबूतीके साथ क्यों नहीं कह देती हो! दबना किसका! फिर मैं देख लूँगा कौन जबर्दस्ती करता है।

बुआ विचित्र भावसे मुझे देखने लगीं। फिर बोलीं—क्या कह दूँ? कैसी ज़बरदस्ती! यह तू सब कह क्या रहा है?—प्रमोद, तू अभी कुछ नहीं जानता, तू बच्चा है।

अपनेको बच्चा सुनकर मुझे जोश आ गया। मैंने कहा—हाँ, बच्चा हूँ और मैं कुछ नहीं जानता। लेकिन एक बार तुम खुलकर कह दो कि तुम नहीं जाना चाहती हो तो मैं देख लूँगा कौन फूफा हैं जो ले जाते हैं। तुम क्या समझती हो कि मै कुछ नहीं हूँ?

बुआ जाने क्यों उस समय भयसे भर गईं। बोलीं—छि: भैया, ऐसी बात कहते हैं। कन्या जाति क्या अपने पिताके घरकी होती है? मैं कोई निराली जनमी हूँ? तिसपर भाई, तू ही बता मेरे पिता कहाँ हैं! वह होते—

मैंने अवश भावसे मानों चिल्लाकर कहा—कौन पिता! कैसे पिता! कैसी बात करती हो, बुआ? बाबूजी तुम्हारे नहीं है? अम्मा नहीं हैं? मैं नहीं हूँ?

बुआने धीरेसे कहा—कोई नहीं है।

मैंने उस समय उनके कंठसे लगकर कहा—मैं नहीं हूँ! मैं नहीं हूँ?

उन्होंने मुझे आलिंगनमें बाँध लिया। कहा—तू है भैया, तू है। तू ही तो है। नहीं तो मैं यह पेटका कुकर्म लिये यहाँ क्यों जी रही हूँ?

इतवारको फूफा आगये। उन्हें बुआकी हालत देखकर बड़ा विस्मय हुआ। उन्होंने कहा कि इस जगहका पानी उन्हें माफिक आया नहीं मालूम होता। देखिए न, क्या हालत हो गई है! क्या हो गया था—दस्त? तीन रोज तक दस्त और कै! उफ! डाक्टर कौन था? यह जगह क्या है कि डाक्टर भी सलीकेके नहीं मिल सकते—जिलेके सिविल सर्जन—

फूफा परेशानीमें अधीर थे। बुआकी अवस्थापर उनकी आलोचना उनके मनकी व्यग्रता और चिंता प्रकट करती थी। मेरे सामने उन्होंने बाबूजीको कहा कि ऐसी हालतमें मुझे तार क्यों नहीं कर दिया गया, मैं सब बंदोबस्त कर देता। हमारे यहाँका पानी और घी-दूध कैसा है, आप जानते ही हैं। मसल है, घी और मरद पछाँहका। कैसी ही गिरी तबीयत हो वहाँ देखते-देखते सँभल जाती है।—

पिताजीसे कुछ विशेष उत्तर नहीं बन पड़ा। ऐसा मालूम होता था कि उन्हें स्वीकार है कि बेशक उन्हींका अपराध है। पिताजीने दो-एक बार कहा कि ख़ैर, हालत कमज़ोर है, कुछ दिन ठहरकर ले जायँ तो क्या बेहतर न होगा?

पर हालत कमज़ोर है तब तो फूफाका कर्तव्य और भी स्पष्ट हो जाता है। आप ही सोचिए, ऐसी हालतमें उन्हें छोड़ जाना कहाँतक मुनासिब है। पर आप देखिएगा कि वहाँ पहुँचकर थोड़े दिनोंमें ही तबीयत हरी हो आती है। और सच पूछिए तो छोटे-मोटे रोगोंकी परवाह करना उनकी परवरिश करना है। सौ दवाओंकी एक दवा है बेफ़िकरी।

फूफाने फिर कहा—आपने उन्हें समझा तो दिया ही होगा। ज़रा सेहतका ख़्याल रक्खा करें। और दुनियाका भी ज़रा लेहाज़ रखना चाहिए। आप जानिए, बहू-बेटियोंकी चलनकी रीति-नीति हुआ करती है। अपने तो वही पुराने अक़ीदे हैं। अपना कुल-शील चला आता है, वह न निभा तो फिर क्या रह गया। ज़रा ये बातें समझा देनी चाहिए। मैं तो अपनी तरफसे थोड़ा बहुत कहता ही हूँ, लेकिन आप जानिए, आपकी बातका मुझसे कहीं अधिक असर होगा।

मैं आठवीं क्लासमें पढ़ता था। तब मैं क्या समझता हूँगा, क्या नहीं समझता हूँगा। फिर भी वह बातें मुझे बिल्कुल अच्छी नहीं मालूम हो रहीं थीं। जीमें कुछ बेमतलब गुस्सा चढ़ता आता था। जी होता था कि वहींके वहीं कोई दुस्सह अविनय कर डालूँ। ऐसे भावकी कोई वजह न थी, पर बाबूजीकी कुछ दबी हुई स्थितिकी झलक उनके चेहरेपर देखकर बड़ी खीझ मालूम हो रही थी। पर जाने मुझे क्या चीज रोक रही थी कि मैं फट नहीं पड़ा।

बाबूजीने फूफाके जवाबमें कहा—जी हाँ, जी हाँ।

सहसा फूफा मेरी ओर मुख़ातिब हुए। कहा—कहिए जनाब, आपका इस्म शरीफ़? ओः याद आया, प्रमोद!

प्रमोद मेरा नाम है तो है। इससे किसीका क्यों कुछ मतलब है? और मैं कुछ नहीं बोला।

"किस दर्जेमें पढ़ते हैं?"

"इस छःमाही इम्तहानमें फेल हो गया हूँ।"

"फेल हो गये हो! यह खबर तो बुरी है। किस जमातमें?"

मैं चुप रहा। क्यों बोलूँ, नहीं बोलता।

"घबराओ नहीं, किस जमातमें पढ़ते हो?"

"मैं फेल होनेसे नहीं डरता—"

उन्होंने बड़े प्रेमसे कहा—

"फेल होनेसे डरना चाहिए भाई। जो मन लगाकर शुरूमें पढ़ते हैं वे ही आगे जाकर जिंदगीमें कुछ करते हैं। समझे? अच्छा, यहाँ आओ। आओ, हमारे पास आओ।"

मैं अपनी जगह ही रहा, टला नहीं।

पिताजीने कहा—जाओ बेटा, जाओ, जवाब दो।

तब मैं छाती निकालकर चलता हुआ फूफाके सामने खड़ा हो गया। उन्होंने अपने दोनों हाथोंसे मेरे दोनों कंधोंको पकड़कर हिलाते हुए कहा—

"दर्जा सातमें पढ़ते हो या आठमें?"

"आठमें।"

"देखो, क्लासमें फेल नहीं होना चाहिए। अच्छा बतलाओ, इकन्नी लोगे कि दुअन्नी?" कहकर उन्होंने अपनी जेबमें हाथ डाला।

मैं अपने मनका पाप कह दूँ। उस समय मेरे मनमें हुआ था कि उल्टे ये ही मुझसे इकन्नी लें, चाहें तो दुअन्नी ले लें, पर इन बड़ी-बड़ी नोकीली मूँछोंको खींचना कैसा मालूम होगा, यह जानना चाहता हूँ। हो तो चलो, इस बातकी अठन्नी ही दे दूँगा।

दो बंद मुट्ठियाँ सामने कर फूफाने कहा—बोलो, कौन-सी लोगे ?

मैं देखता रह गया, कुछ नहीं बोला।

" जल्दी बतलाओ, नहीं तो दोनोंका माल उड़ जायगा और फिर ताकते रह जाओगे।"

मुझको बहुत बुरा मालूम हो रहा था। मैंने कहा—

" आपको चाहिए, तो दुअन्नी मैं आपको दे सकता हूँ।"

सुनकर झेंपके साथ वह 'हो-हो-हो-हो' करके हँस पड़े। उनकी हँसीकी कृत्रिमता और झेंप देख मुझे गर्व हुआ। मैंने कहा—

" मैं आठवें दर्जेमें पढ़ता हूँ और इस इम्तहानमें अव्वल आया हूँ।"

फूफा इसपर फिर हँसे—हो हो-हो-हो !

मुझे ऐसा मालूम हुआ कि वह मुझसे असंतुष्ट हुए और उनके असंतोषमें जाने क्यों मुझे प्रसन्नता हुई। ऐसा मालूम हुआ जैसे पिताजीका मैं बदला ले सका हूँ।

अगले दिन जानेकी तय्यारियाँ होने लगीं। मुझसे बुआने कहा—प्रमोद, मेरा कहा-सुना सब माफ़ करना। जाने तुम लोगोंके अब कब दर्शन हों।

मैंने तय किया था कि बुआके लिए मुझे मज़बूत बनना होगा, पर बुआके सामने मेरी मज़बूती सब टूट जाती थी। बुआकी यह बात सुनकर मेरा चित्त विह्वल हो आया। कुछ कहनेके लिए कहा—बुआ, ख़त लिखती रहोगी ?

बुआने कहा—खत ? देखो—

मैंने कहा—ज़रूर-ज़रूर लिखना, बुआ। बुलाओगी तब मैं फौरन आ जाऊँगा। मैं रेलमें अकेला सफ़र कर लेता हूँ।

"तुझको नहीं बुलाऊँगी तो और किसको बुलाऊँगी। पर क्यों रे, अकेला सफ़र करके तू मुझतक आयगा ?"

"मैं आऊँगा, बुआ, मैं आऊँगा। बुलाओगी, तभी सब काम छोड़ आऊँगा।"

बुआने हल्केसे मेरे गालपर चपत मारकर कहा—पगला।

उस बार जाते समय बुआ माँके पैर छूकर रोती हुई सामने खड़ी हो गईं, बोलीं कुछ भी नहीं। माँने द्रवित भावसे उन्हें अपने कंठसे लगाकर कहा—मिनी, मैं तुझे जल्दी बुलाऊँगी। वहाँ अपनी गिरिस्ती अच्छी तरह सँभालना और पतिको सुखी करना, मिनी !

माँने गद्गद कंठसे भाँति-भाँतिके आशीर्वचन कहे। बुआ मस्तक झुकाकर मानों सब झेलती रहीं। पतिव्रता रहने, पूतों फलने, बड़भागिन होने आदिके आशीर्वाद उन्होंने ऐसे प्रणत भावसे लिये कि मानों उनके नीचे वह गड़कर मर भी जायँ तो धन्य हो जायँ। नहीं तो—नहीं तो—

पिताजीके सामने बुआ फूट-फूटकर रोने लगीं। पिताजीने झट रूमाल निकालकर चेहरेको बार-बार पोंछा, निरर्थक भावसे जल्दी-जल्दी कहा—'क्या है ? क्या है ?' 'कुछ नहीं, कुछ नहीं,' 'रोओ मत, रोओ मत,' 'छिट्, छिट्, रोते हैं !' और कहते-कहते हठात् वह बुआके सामनेसे दूर चले गये

और साथ जानेवाली गठरी-पोटरी, बक्स-बिस्तर गिनने और बतलाने और उठवानेमें लग गये। ऐसे कि बस बहुत ही काम हैं, हमें क्या फुर्सत रक्खी है।

मैंने प्रण किया था कि मैं नहीं रोऊँगा, नहीं रोऊँगा। मैं नहीं रोया, नहीं रोया। मुझे बेहद गुस्सा मालूम होता था कि मैं क्यों कुछ उत्पात नहीं किये डाल रहा हूँ। मेरे मनमें हो रहा था कि कोई मुझसे झगड़ता क्यो नहीं है। इससे उससे, किसी न किसीसे टक्कर लेनेको जी होता था। बुआ!—उँह, वह जायँ तो जायँ। मेरा उनसे कुछ मतलब नहीं है। मेरा किसीसे कुछ मतलब नहीं है। मैं अकेला सब कुछसे निबट लूँगा। हाँ अकेला, अकेला। मुझसे मत बोलो, कोई मत बोलो। मैं नहीं याद करूँगा बुआको। वह क्यों चली जा रही हैं? मेरे रहते क्यों चली जा रही हैं? और यह फूफा कौन बला हैं कि ले जायँगे?—ले जायँ तो ले जाँय। जायँ, जायँ, अरे टलें तो।

एक अहेतुक त्रास मुझे दाबे हुए था। वह न रोने देता था, न कुछ करने देता था। नतीजा यह हुआ कि मैं बुआकी बिदाके समय देखते देखते एकाएक इतना झल्ला आया कि भागकर बुआवाली कोठरीमें अपनेको बंद करके खड़ा हो गया। किवाड़ बंद कर लेनेसे अँधेरा हो गया था, तिसपर भी दोनों हाथोंसे जोरसे आँखें ढँप ली थीं और गुम-सुम कोठरीके बीचों बीच आकर बस खड़ा रह गया था। मानों आशा थी कि कोई करिश्मा होगा, भूचाल आयगा, कुछ न

कुछ होगा, और आखिरमें सब ठीक हो जायगा। वहाँ खड़े खड़े चाहता था कि साँस रोक लूँ, बेजान हो जाऊँ, एकदम रहूँ ही नहीं—

कि इतनेमें इधरसे उधर झपटती हुई माँकी गद्गद कंठकी गुहार आई—प्रमोद! प्रमोद!

मैं नहीं बोला। मैं नहीं बोलूँगा। प्रमोद कहाँ है? प्रमोद नहीं है। मैं प्रमोदको नहीं जानता। नहीं जानता, मैं नहीं जानता कुछ।—

"अरे प्रमोद! ओ भैय्या प्रमोद!"

माँकी वाणी ऐसी थी कि मुझसे सहा नहीं गया। मैंने अपनी जगहसे ही चीखकर कहा—क्या है? मैं नहीं सुनता!—

"कहाँ है रे तू? तेरी बुआ बुला रही है!"

मैं कोठरीसे बाहर निकल आया। बोला न चाला, ड्योढ़ी-की ओर बँधे भावसे बढ़ता चला गया। बाहर आकर देखता हूँ कि सब तैयार हैं। फूफा कह रहे हैं—'जल्दी करो, जल्दी करो।' बुआ खड़ी हैं। मुँहपर घूँघट है। क्या मेरी ही राह देखती खड़ी हैं? मैंने पास आकर कहा—बुआ, क्या है?

वह झपटकर मेरे गलेसे लग गईं और ऊँची आवाज़से रो उठीं।

फूफाने कहा—रेलका वक्त हो रहा है। चलो, चलो।

मैं उन्हें अपने कंधेसे लगी-लगी ही मोटर तक ले गया।

फूफाने बाबूजीको प्रणाम किया। वह मोटरमें बैठ गये। मोटरने घर्र-घर्र की। फूफाने समोद भावसे कहा—'प्रमोद साहब! आदाब अर्ज़ है।' मैं मानों घूँट पीता हुआ खड़ा था।

४

मैं अब साँस लूँगा। बहुत कह चुका। मेरा मन दर्दसे भरा हुआ है। यों तो यह कहानी आरंभ की है तो पूरी भी करनी ही होगी। जीना एक बार शुरू करके, मौत आकर छुट्टी न दे दे तबतक, जीना ही होता है। बीचमें छुट्टी कहाँ? पर मैं ज़रा साँस लेना चाहता हूँ।

बहुत कुछ जो इस दुनियामें हो रहा है वह वैसा ही क्यों होता है, अन्यथा क्यों नहीं होता—इसका क्या उत्तर है? उत्तर हो अथवा न हो, पर जान पड़ता है भवितव्य ही होता है। नियतिका लेख बँधा है। एक भी अक्षर उसका यहाँसे वहाँ न हो सकेगा। वह बदलता नहीं, बदलेगा नहीं। पर विधिका वह अतर्क्य लेख किस विधाताने बनाया है, उसका उसमें क्या प्रयोजन है—यह भी कभी पूछकर जाननेकी इच्छा की जा सकती है, या नहीं?

शायद नहीं। ज्ञानी जन कह गये हैं कि परम कल्याणमय ही इस सृष्टिमें अपनी परमा लीलाका विस्तार कर रहा है। मैं मान लेता हूँ कि ऐसा ही है। न मानूँ तो जीऊँ कैसे? पर रह-रहकर जी होता है कि पुकार कर कहूँ कि हे, परम कल्याणमय, तेरी कल्याणीय लीलाको मैं नहा जानता हूँ।

फिर भी रोने बिलखनेकी आवाज तो चारों ओरसे मेरे कानोंमें भरी आ रही है। यह क्या है, ओ जगत्पिता! तेरी लीलाके नीचे यह सब आर्तनाद क्या है?

लीला तेरी है, जीते-मरते हम हैं! क्यों जीते, क्यों मरते हैं? हमारी चेष्टा, हमारे प्रयत्न क्या हैं? क्यों हैं?...पूछे जाओ, उत्तर कोई नहीं मिलता।

फिर भी उत्तर नीरव भाषामें सदा मुखरित है। भीतर उत्तर है, बाहर भी सब कहीं वही वह लिखा है। जो जानता है, पढ़े। जो जैसा जानता है, वैसा ही पढ़े। वह उत्तर कभी नहीं चुकता है। अखिल सृष्टि स्वयंमें उत्तर ही तो है। अपने प्रश्नका वह आप ही उत्तर है।

पर उसे छोड़ें। कहें वह, जो कहा जाता है। कहो कि जो है, कर्म-फल है। मैं अपनी व्यर्थ प्रतिष्ठाके दूहपर बैठा हूँ। वह कृत्रिम है, क्षणिक है। हृदय वहाँ कहाँ है? यज्ञ वहाँ कहाँ है? लेकिन वही सब कुछ मुझे ऊँचा उठाये हुए है। नामी वकील रहा, अब जज हूँ। लोगोंको जेल-फाँसी देता हूँ। समाजमें माननीय हूँ। इस सबके समाधानमें चलो यही कहो कि यह कर्मफल है! लेकिन सच पूछो तो मेरा जी जानता है कि वह कैसे कर्मोंका फल है। कामयाब वकालत और इस जजीके इतने मोटे शरीरमें क्या राई जितनी भी आत्मा है? मुझे इसमें बहुत संदेह है। मुझे मालूम होता है कि मैं अपनेको खो सका हूँ तभी सफल वकील और बड़ा

जज बन सका हूँ। और वह मृणाल बुआ—लेकिन उस कहानीको तो जब कहना होगा तभी कहूँगा।

मेरा मन रह-रहकर त्राससे भर जाता है। समाजकी जिस मान्यतापर मैं ऊँचा उठा हुआ खड़ा हूँ, वह स्वयं किसके बलिदानपर खड़ी है, इस बातको जितना ही समझकर देखता हूँ उतना ही मन तिरस्कार और ग्लानिसे घिर जाता है। पर क्या करूँ? सोचता हूँ, उस समाजकी नीवको कुरेदनेसे क्या कुछ हाथ आयगा? नीव ढीली ही होगी और ऐसे हाथ आनेवाला कुछ नहीं है। यह सोच लेता हूँ और रह जाता हूँ।

पर क्यों मैं यह नहीं जानता कि यह सब अपनेको ठगना है। समाजके ऊपर चढ़ बैठकर मैं उसे दबा सकता हूँ, बदल नहीं सकता। उसके फलने फूलनेका तो एक ही उपाय है, वह यह कि मैं अपनेको समाजकी जड़ोंमें सींच दूँ। अज्ञात रहकर सच्चा बनूँ, झूठा बनकर नामवर होनेमें क्या रक्खा है? ओः वैसी नामवरी निष्फल है, व्यर्थ है, निरी रेत है। आत्माको खोकर साम्राज्य पाया तो क्या पाया? वह रत्नको गवाँकर धूलका ढेर पानेसे भी कमतर है।

जीवनमें एक बात तो नहीं है, दसियों बातें हैं। वे जीमें ऐसी जगह बैठ गई हैं कि घुमड़ती रहती हैं। उनपर आँखें मींचूँ तो भी नहीं मिच सकतीं। वे मेरे भीतर अनुकूल वायुमें कभी कभी ऐसी सुलग जाती हैं कि उनकी लौके प्रकाशमें मैं देख उठता हूँ कि सचाई क्या है। तब मेरी जजी मुझे

शाप दीखती है और जान पड़ता है वही प्रवंचना है, वही प्रवंचना है। सचाई तो छोटा बननेमें है, निरीह बननेमें है, बलि बननेमें है। बहुत कुछ देखा है, बहुत कुछ पढ़ा है। लेकिन वह सब झूठ है। सच इतना ही है कि प्रेमके भारसे भारी रहकर जो जीवनके मूलमें पैठा है, वह धन्य है। जो गर्वमें फूला उस जीवनकी फुनगियोंपर चहक रहा है, वह भूला है।

लेकिन व्यर्थ बातें मैं क्या करूँ? इससे क्या फ़ायदा है? ऐसे मनका दर्द हल्का तो होगा। पर हल्का होकर वह दर्द सह्य अधिक बन जाता हो, इस भाँति प्रेरक तो वह अवश्य ही कम हो जाता है।

पूछता हूँ, मानवके जीवनकी गति क्या अंधी है? वह अप्रतिरोध्य है, पर अँधी है यह तो मैं नहीं मानूँगा। मानव चलता जाता है और बूँद-बूँद दर्द इकट्ठा होकर उसके भीतर भरता जाता है। वही सार है। वही जमा हुआ दर्द मानवकी मानस-मणि है। उसीके प्रकाशमें मानवका गति-पथ उज्ज्वल होगा। नहीं तो चारों ओर गहन वन है, किसी ओर मार्ग सूझता नहीं है, और मानव अपनी क्षुधा-तृषा, राग-द्वेष, मान-मोहमें भटकता फिरता है। यहाँ जाता है, वहाँ जाता है। पर असलमें वह कहीं भी नहीं जाता; एक ही जगहपर अपने ही जुएँमें बँधा हुआ कोल्हूके बैलकी तरह चक्कर मारता रहता है।

इतनी उम्र बिताकर बहुतोंको मरते और बहुतोंको जीते

देखकर अगर मैं कुछ चाहता हूँ तो वह यह है कि भीतर-का दर्द मेरा इष्ट हो। धन न चाहूँ, मन चाहूँ। धन मैल है, मनका दर्द पीयूष है। सत्यका निवास और कहीं नहीं है। उस दर्दकी साभार स्वीकृतिमेंसे ज्ञानकी और सत्यकी ज्योति प्रकट होगी। अन्यथा सब ज्ञान ढँकोसला है और सब सत्यकी पुकार अहंकार है।

जो होता है उसके लिए दोष मैं किसे दूँ? विधाताको तो दोष दे नहीं सकता, क्योंकि उनतक मैं किसी प्रकार अपना धन्यवाद भी नहीं पहुँचा सकता। दोष दूँ ही क्यों? अगर मेरे मनमें दोष उठे बिना नहीं रहता, तो उसे मैं किसीको भी क्यों दूँ, स्वयं ही क्यों न ले लूँ? मैं जान लूँ कि चाहे कुछ भी हो, हमारा दुख विधाताका ही दुख है। पर जो जगत्की कठोरताका बोझ इच्छापूर्वक अपने ऊपर उठाकर चुपचाप चले चलते हैं और फिर समय आनेपर इस धरती मातासे लगकर उसी भाँति चुपचाप सो जाते हैं, मैं उनको प्रणाम करता हूँ। मैं उनको अभागा भी कह लूँगा, पापी भी कह लूँगा—लेकिन मैं उनको प्रणाम करता हूँ।

बुआका जो अंत हुआ, उसपर मैं क्या सोचूँ? मैं कुछ नहीं सोचना चाहता। शायद जो हुआ ठीक हुआ। ठीक इसलिए कि उसे अब किसी भी उपायसे बदला नहीं जा सकता। लेकिन इतना तो सोचा ही करता हूँ कि जो प्रेम उनसे मुझे प्राप्त हुआ था वह क्या किसी भी भाँति भूला जा सकता है और क्या वह स्वयंमें इतना पवित्र नहीं है कि स्वर्गके द्वार उसके समक्ष खुल जायँ?

लेकिन मैं नहीं जानता। स्वर्ग नरक मैं नहीं जानता। विधाताके विधानको मैं नहीं जानता। बस इतना जानता हूँ कि मैं हृदय-हीन न हो सका होता तो आज कामयाब वकील बननेके बाद जजीकी कुर्सीमें बैठना भी मेरे नसीबमें न होता।

उस रोज़के बाद जब बुआ जमालगोटेके बावजूद फूफाके साथ चली गई थीं मुद्दततक उनसे मिलना न हुआ। नवीं क्लासमें आया, मैट्रिक पार कर लिया, कालिजमें दाखिल होकर आखिर आई० ए० भी कर चुका। नई परिस्थितियाँ मिलीं, नये दोस्त मिले, निगाह फैलती गई और ज़िन्दगीकी ख्वाहिशें मुँह खोलकर सामने आईं। बुआकी याद धीमे-धीमे धीमी हो गई। पहले तो मैं मचल-मचलकर उनकी ख़बर माता-पितासे पूछता रहा। मालूम इतना ही होता रहा कि अपने ठीक हैं, मौजसे हैं। मैं अपनेसे पूछता रह जाता था कि यह ठीकसे होना, मौजसे होना क्या चीज़ होती है? क्या बुआ प्रसन्न हैं? प्रसन्न हैं तो मैं इधर प्रसन्न क्यों नहीं हूँ? ऐसा मनमे उठता था और बैठ जाता था। कुछ काल बाद पता लगा कि उन्होंने एक मृत कन्याको जन्म दिया है। उस जन्म देनेमें उनकी भी हालत मृतप्राय हो गई थी। पर 'जाको राखे साइयाँ' उसका मरना आसान नहीं है। सो परमात्माकी दयासे बच गईं। दया कहते जी कुछ रुकता है, फिर भी अदया तो उसे नहीं कहा जाता।

एक दिन ऐसा हुआ कि मैंने माँसे पूछा—माँ, बुआका कोई हाल आया है? अबकी छुट्टियोंमें मैं उनके पास जाऊँगा। सुनकर माँ फटी आँखोंसे मुझे देखती रह गईं; बोलीं नहीं।

मैंने आग्रहपूर्वक कहा—बताओ, कोई बुआका हाल नहीं आया ?

माँने कुछ अतिरिक्त लापर्वाहीके साथ कहा—नहीं।

मैंने कहा—आया है।

बोलीं—नहीं आया, नहीं आया। क्यों मेरी जान खाये डालता है।

मैंने कहा—क्या बात है, बतलाती नहीं हो ?

बोलीं—बात ! कह तो दिया कि बात कुछ भी नहीं है। वह अच्छी होगी और क्या। अपना पढ़ना-लिखना कुछ भी नहीं, जब देखो 'बुआ ! बुआ !' जा, तेरी बुआ मर गई !—हाँ-तो ! खबरदार जो अब बुआकी बात मुझसे की !

मैं सकतेमें रह गया। पूछा—क्या है ? क्या है ?

"कुछ नहीं। चल जा अपना सबक देख।"

मै किसी भाँति माँसे कुछ न पा सका। वह कुछ कहती ही नहीं थीं। बाबूजीसे पूछा। वह भी जवाबमें चुप रह गये। मैंने कहा—बाबूजी, सच बताइए। बुआ मर गई हैं ?

बाबूजी आँख फाड़कर रह गये। बोले—किसने कहा ?

"किसीने भी कहा। आप सच-सच बताइए—मर गई हैं ?"

"नहीं तो—"

"तो क्या बात है ?"

"बात—कुछ नहीं है।"

मुद्दत बीत गई। पर मैं इस रहस्यको न खोल सका। अबसे बुआकी चर्चा घरमें निषिद्ध बन गई। उनका नाम आता तो सब चुप रह जाते। पिताजीकी प्रकृति ही बदल गई दीखती थी। वे कुछ भीरु गंभीर हो चले थे। माँ चिड़-चिड़ी होती जाती थीं।

बहुत दिनों बाद जो बात मैंने जानी वह यह थी कि पतिने बुआको त्याग दिया। बुआ दुश्चरित्रा हैं और फूफाको मालूम है कि वह सदासे ऐसी हैं। 'छोड़ दिया है,' इसका पूरा मतलब एकाएक समझमें नहीं आया। छोड़ कहाँ दिया है? क्या वह खुद चली गई हैं या किसी अलग स्थानपर उनको रख दिया गया है, या उसी घरमें ही हैं और संबन्ध-विच्छेद हो गया है? पता चला कि उसी शहरमे एक अलग छोटेसे घरमें रख दिया है। कोठरी है ही, उसमे जैसे चाहे रहें, जैसे चाहे खाएँ-पीएँ। कहाँसे रहें और कहाँसे खाएँ पीएँ? कहींसे रहें और कहींसे खाए-पीएँ। यह भी ज्ञात हुआ कि फूफाने तो कहा था कि मैके चली जाओ पर बुआ इसके लिए बिल्कुल राजी नहीं हुई। धमकाया गया, मारा पीटा गया, पर उन्हें मरना मंजूर हुआ हमारे यहाँ आना कबूल नहीं हुआ; तब खुद फूफा जाकर उन्हें अलग घरमें छोड़ आये हैं।

यह सब कुछ कहानी-सा मैंने सुन लिया। मेरी कल्पना आरंभमे तो उधर उत्साहके साथ बढ़ी; फिर शनैः शनैः उत्साह शांत हो गया और जीवन उस कहानीको स्वीकार कर सहज गतिसे चलने लगा।

ज़िन्दगी है, चलती जाती है। कौन किसके लिए थमता है! मरते हुए मर जाते हैं, लेकिन जिनको जीना है वे तो मुर्दोंको लेकर वक़्तसे पहिले मर नहीं सकते। गिरतेके साथ कोई गिरता है! यह तो चक्कर है। गिरता गिरे, उसे उठानेकी सोचनेमें तुम लगे कि पिछड़े। इससे चले चलो। पर इस चलाचलीके चक्करमें अकस्मात् मुझे और भी पता लगा। वह यह कि अब बुआ उस जगह नहीं हैं, वहाँसे (अमुक) नगर चली आई हैं। कोइलेकी दुकान करनेवाला एक बनिया साथ है। वह (अमुक) नगर जहाँ हम रहते थे, उससे दूर नहीं था। बुआ उसीके एक कोनेमें आ टिकी होंगीं, यह बात एकदम बहुत आश्चर्यजनक और असंभव-सी लगी।

इसके थोड़े दिनों बाद पिताजीका देहांत हो गया। अब हम जरा संकुचित भावसे रहने लगे। क्यों कि माँ बहुत सोच-विचारवाली थीं। झूठी शानसे बचती थीं और मेरे बारेमें ऊँची आशाएँ रखती थीं। इस बीच मैं एफ० ए० कर चुका ही था, थर्ड ईयरमें पढ़ता था। यूनिवर्सिटी जा रहा था कि उस नगरके स्टेशनका बोर्ड देखकर एकाएक मनमें संकल्प-सा उठने लगा। सोचा कि अभी तो नहीं, पर लौटते हुए, अकेलेमें जरूर यहाँ उतरना होगा। मैं बुआको ढूँढ निकालूँगा और कहूँगा—बुआ तुम! यह तुम्हारा क्या हाल है? चलो, यहाँसे चलो।

यूनिवर्सिटीसे छुट्टी होते ही घर पहुँचनेके लिए माँने लिख भेजा था। बात यह कि मेरे ब्याहकी बातचीतके सूतको

उठाकर इस बार माँ उसमें पक्की गाँठ दे देना चाहती थीं। लेकिन लौटते हुए रास्तेके उस स्टेशनपर उतरे बिना मुझसे नहीं रहा गया और मैंने बुआको खोज निकाला।

५

शहरके उस मुहल्लेमें जाते हुए मन मेरा दबा आता था। कहाँ बुआ, कहाँ इस जगहकी गंदगी! वहाँ नीचे दर्जेके लोग रहते थे। भीतर गलीमें गहरे जाकर बुआकी कोठरी थी। बनिया बाहर एक दुकान लेकर वहाँ दिनमें कोइलेका व्यवसाय करता था। मैं कोठरीके द्वारपर पहले तो ठिठका, फिर हिम्मत बाँध, दरवाज़ा ठेलता हुआ अंदर चला गया।

वह बुआ ही थीं। क्या वही है? लेकिन वही थीं। एक धोतीमें बैठीं अँगीठीपर कोइलेकी आँचमें रोटी सेंक रही थीं।

किसीको आते देख उन्होंने झट आँचल थोड़ा माथेके आगे खींच लिया था। लेकिन जब मुझे देखा, तो देखती रह गईं। क्या पहचाना नहीं? या पहचान लिया है? मैं उस निगाहके सामने स्तब्ध होकर रह गया। उस समय मैं अपनेको बहुत-बहुत धिक्कारने लगा कि यहाँ क्यों आया, क्यों आया। कुछ ऐसा भाव उस दृष्टिमें था।

कुछ देर बाद चुपचाप उन्होंने मुझपरसे आँख हटाकर अपने सामनेकी अँगीठीपर ही जमा ली और रोटी बनानेमें लग गईं।

थीं बुआ ही, लेकिन उनका यह क्या रूप था? देह

दुबली थी, मुख पीला था। गर्भवती थीं। एक धोतीमें अपनी सब देह ढाँके बैठी थीं। मुँहपर क्या लाजकी छाया आ छाई थी। कोठरी बारह फीट वर्गसे बड़ी न होगी। बाहर थोड़ी खुली जगह थी जहाँ धोती अँगोछे सूख रहे थे। कमरेमें एक ओर कपड़े चिने थे। उनके पास ही दो-एक बक्स थे। उनके ऊपर बाँस टाँगकर कुछ कामके कपड़े लटका दिये गये थे। बुआकी पीठकी तरफ़ दो-एक टीनके आधे कनस्तर, दो-चार हँडियाँ, और कुछ मिट्टीके सकोरे और टीनके डब्बे थे। वहाँ पास कुछ पीतल एल्यूमीनियमके वर्तन रक्खे थे और एक टीनकी बाल्टी और पानीका घड़ा भरा रक्खा था। एक कोनेमें कोइलेकी बोरी आधी झुकी हुई खड़ी थी।—

मैं यह सब देखता रह गया। बुआ कुछ भी नहीं बोलीं। वह एकटक सामने अँगीठीमें देखती हुई रोटी बनानेमें लगी रहीं।

मैंने कहा—मैं प्रमोद हूँ, बुआ।

वह नहीं बोलीं।

मैं भी चुप होरहा। फिर बोला—मैं जाऊँ?

अब भी उन्होंने न आँख उठाकर मुझे देखा, न कुछ कहा।

लेकिन मुझसे जाया नहीं गया। पैर मानों जम गये हों। मैंने हठात् हल्के भावसे कहा—लो, नहीं जाता। पर कुछ बैठनेको दो तो मैं बैठूँ, बुआ।

मैंने सोचा था कि अब तो बुआ बोलेंगी, लेकिन वह नहीं बोलीं। इतनेमें ही बाहरसे किसीके पैरोंकी आहट आई और

आवाज़ आई—‘ रोटी हो गई ?’ उसके पीछे ही पीछे एक व्यक्ति वहाँ कोठरीमें आकर मुझे देखता हुआ सन्न खड़ा रह गया।

बुआने अपनी अँगीठीकी तरफ देखते हुए कहा—सुनते हो ! इनसे कह दो कि ये जायँ। यहाँ क्यों आये हैं ?

व्यक्ति और भी आश्चर्यसे ऊपरसे नीचेतक मुझे देखता हुआ खड़ा रह गया। उस समय ख्याल हुआ कि यहाँ आते वक्त इतना भी मुझे क्यों नहीं सूझा कि टोप-पतलून और टाई न पहनकर चलूँ। उस समय अपने बदनपरके ये कपड़े मुझे बहुत ही कष्टकर हुए। वह व्यक्ति सहमा-सा मुझे देखता रहा और कुछ भी बोल नहीं सका।

मैंने कहा—बुआ, मै सचमुच जाऊँ ?

वह चुप रहीं, कुछ भी उत्तर नहीं दिया।

मैंने कहा—लो तो मैं जाता हूँ। लेकिन कलसे मुझको कुछ भी खानेको नहीं मिला है और मुझे भूख लग रही है—यह सच्ची बात है।

यह कहकर मैं मुड़कर चलनेको हो गया।

बुआने बिना किसी ओर देखे कहा—

“ सुनते नहीं हो ! खड़े क्या हो, जाकर चार पैसेका दही ले आओ। और सुनो, बूरा भी लाना।”

वह व्यक्ति इसपर बिना कुछ देर लगाये कोठरीके बाहर चला गया।

मैंने तब बूटके तस्मे खोले और उन एक तरफ चिन कर

रक्खे हुए कपड़ोंके ऊपर बेतकल्लुफ़ीसे जा बैठा। अब मैं बुआके बिल्कुल सामने था। मैंने कहा—बुआ, तुम सच जानना मैं कलका भूखा हूँ।

बुआने अब आँख उठाकर मेरी ओर देखा। उन आँखोंमें क्या था! बोलीं—आप यहाँ खाएँगे?

मैंने कहा—मैं 'आप' ही सही। लेकिन मैं भूखा हूँ। नहीं कैसे खाऊँगा?

बुआ नीचे देखने लगीं। उन्होंने अँगीठीपरसे तवा उतारा और वे तवेकी रोटीको अँगीठीकी आँचपर सेंकने लगीं। रोटी फूल आई। उसको इधर-उधर करके सेंकती रहीं, बोली नहीं। रोटी सेंककर अलग रख दी। उसके बाद तवा अँगीठीपर रख दिया। और फिर—

मुझे मालूम हुआ कि उनकी आँखें हठात् ऊपर उठती नहीं हैं। मेरा जी इसपर बेहद त्रस्त था। चाहता था कि उन्हें जतला दूँ कि मैं प्रमोद हूँ, प्रमोद। बुआ, सुनो तो; देखो तो। मैं वहीका वही प्रमोद हूँ। और तुम भी तो, बुआ वहीकी वही बुआ हो। क्या नहीं—?

मैंने कहा—बुआ!

उन्होंने सुन लिया।

मैंने कहा—बाबूजी तो चले गये, बुआ। मनमें तुम्हारी याद लेकर गये। बताओ, मेरा अब कौन है? एक माँ हैं। दूसरी तुम—

बुआ निस्तब्ध भावसे बैठी ही रहीं। कुछ भी नहीं

बोलीं। मेरे मनमें हुआ कि मैं खुलकर सामने बिछ जाऊँ कि बुआ कुछ कहें तो। क्यों यों मुझे सजा देती हैं।

मैंने कहा—मैं बी० ए० में पढ़ रहा हूँ, बुआ। अभी यूनिवर्सिटीसे आ रहा हूँ। माँ ब्याहकी बात कर रही हैं। सुनती हो न? माँ इसी साल ब्याह करना चाहती हैं। पर मैं नहीं चाहता। बी० ए० पास नहीं करता तब तक मैं कुछ भी ऐसी-वैसी बात नहीं सोचना चाहता। ठीक है, क्यों बुआ? तुम मत बोलो, लेकिन मैं तुम्हें बताये देता हूँ कि अभी मैं ब्याह नहीं करनेका। पर वहाँ अम्माँसे कोई भी मेरी तरफकी बात कहनेवाला नहीं है। वह मुझे दबा लेती हैं। बुआ, मेरे साथ ज़बरदस्ती हुई तो सच कहता हूँ कि मैं तुम्हें ही दोष दूँगा। मैं और कुछ नहीं जानता।

मैंने देखा कि बुआके हाथ बेलनपर शिथिल, निष्क्रिय पड़ गये हैं और तवेकी रोटी फूलकर अब जलनेकी चेतावनी दे रही है—

इतनेमे द्वारपर आहट आई। वह मानों चौंककर सावधान हुई और चकलेपर पड़ी हुई रोटी यथाविधि बेलने लगीं। उसी समय उस व्यक्तिने आकर दही और बूरा बुआके पास ला रक्खा।

बुआने कहा—अभी दुकानपर बैठो। सुना? खानेके लिए थोड़ी देरमे आना।

व्यक्ति सुनकर मुझे देखता हुआ बाहर चला गया।

बुआने उस समय आँख उठाकर मुझे देखा। कहा, लो आओ।

मैंने कहा—पहले बना लो, तब तुम्हारे साथ खाऊँगा।

बुआने कहा—नहीं, तुम बैठो।

मैंने कहा—मेरे साथ नहीं खाओगी?

"नहीं।"

"कब खाओगी?"

"पीछे खाऊँगी।"

मैंने कहा—पीछे कब खाओगी? अभी न खाओ।

"उनको खिलाकर खाऊँगी।"

मैं कुछ नहीं बोला। चुपचाप उठा, मोज़े खोले, कोट उतारकर बाँसपर टाँग दिया, थाली ली। थाली लेकर दरोक सोचता रह गया, कहाँ कैसे बैठूँ।

"वहाँसे एक दरी ले लो न। और यहाँ पास डालकर बैठ जाओ।"

मैंने दरी ली और जहाँ बताया गया था बिछाकर बैठ गया। खाते समय बुआने पूछा—

"माँ अच्छी है?"

"अच्छी हैं।"

"यहाँ कहाँ ठहरे हो?"

"स्टेशनपर वेटिंग-रूममें सामान पड़ा है।"

"कल ही आये?"

"हाँ, कल ही आया।"

"यहाँकी खबर किसने दी?"

"लग गई।"

"कब जाओगे ?"

"जब तुम चलोगी।"

सुनकर जैसे बिजली छू गई हो, चेहरा उनका एकदम फ़क हो पड़ा। जैसे लहू जम गया हो। निगाह नीचे डाल ली और वह कुछ नहीं बोलीं। मैं भी चुप हो रहा। थोड़ी देर बाद मैंने कहा—चलोगी नहीं ?

बुआने इस बार मानों अत्यंत कठोर स्थिर भावसे मुझे देखते हुए पूछा—कहाँ ?

मैंने कहा—कहाँ क्या ! घर।

बुआने उसी भावसे मुझे देखते रहकर कहा—माँने कहा है ?

"मैं तो कह रहा हूँ।"

यह सुनकर मानों उन्हें धीरज बँधा। उनके चेहरेका कठिन भाव कुछ कम हो आया। बोलीं—पहले शादी तो कर लो, तब घर बनेगा। और उस समय कहने आओगे तब मेरे सुननेका भी वक्त होगा।

मैंने ज़ोरसे कहा—मेरा घर मेरा नहीं है तो किसका है ?

वह धीर भावसे बिना उत्तर दिये मुझे देखती रहीं।

मैंने पूछा—तो नहीं चलोगी ?

बुआ इसपर कुछ मुस्करा आईं; बोलीं—तुम तो कहते थे बी० ए० में पढ़ता हूँ। पर देखती हूँ, तुमने अब भी कुछ नहीं सीखा है।

मैंने कहा कि नहीं सीखा तो नहीं सही, लेकिन मैं तुम्हें घर ले चलूँगा।

बुआने कहा—अच्छा पहले खा तो लो। फिर जो हो करना।

मैंने कहा—तुम्हें पता है, मैं बीस बरसका अब हो रहा हूँ। बालिग हूँ। घरका मैं मालिक हूँ। माँ हैं तो मेरी माँ हैं। मैं तुम्हें यहाँ कैसे रहने दूँगा?

बुआने पूछा—तो तू ज़रूर ले चलेगा?

"ज़रूर ले चलूँगा।"

बुआ क्षणेक रुकीं। फिर बोलीं—

"ज़रूर ले चलेगा, तो सुन। मैं नहीं जाऊँगी, मैं नही जा सकती। तुम मुझको नहीं जानते हो। मैं पतिके घरको छोड़कर आ गई हूँ। पति हैं, पर दूसरे पुरुषके आसरे रह रही हूँ, उसके साथ रह रही हूँ। तुम न जानो, मैं यह जानती हूँ। तुम अपनी आँखें ढँक लो, लेकिन मुझसे अपना यह सारा पातक निगल जानेको नहीं कह सकते। फिर जिनका साथ लेकर पतिको छोड़ आई हूँ, उनको मैं छोड़ दूँ? उन्होंने मेरे लिए क्या नहीं त्यागा? उनकी करुणापर मैं बची हूँ। मै मर सकती थी, लेकिन मैं नहीं मरी। मरनेको अधर्म जानकर ही मैं मरनेसे बच गई। किसके सहारे मैं उस मृत्युके अधर्मसे बची? जिनके सहारे मैं बची, उन्हींको छोड़ देनेकी मुझसे कहते हो?—मैं नहीं छोड़ सकती। पापिनी हो सकती हूँ, पर उसके ऊपर क्या अकृतज्ञ भी बनूँ? नहीं। प्रमोद, तुम सब लोग मुझे मरा हुआ क्यों नहीं मान लेते हो? क्यों मुझे तंग करते हो?"

मैं सुनता रह गया। इस तरहकी बातें मैंने बुआके मुखसे कभी नहीं सुनी थीं। मालूम होता था, ऐसा ही कोई भीतरी बल उनके इस जीवनको थाम भी रहा है, नहीं तो वह हर तरह अधमरी तो हैं ही।

मैंने खाना खा लिया। बुआ भी खाना बना चुकी थीं। उसी समय अपने गिनतीके वर्तन धो-माँजकर मुझसे उन्होंने कहा—

"सुनो, अभी ही तो नहीं जा रहे हो न?"

"अभी ही तो नहीं—"

"तो एक काम करो। बाहर ही दुकान है, वहाँसे उन्हें खानेके लिए भेज दो। तुम इतने पाँच मिनट वहाँ बैठना। फिर यहाँ आराम करके, जाना हो तो, दो पहर बीते जाना।"

मैंने बाहर आकर उस व्यक्तिको खाना खाने जानेके लिए कह दिया और स्वयं सोचने लगा कि इस कोइलेकी दुकानपर कहाँ बैठूं। एक टाट है जिसपर पिसा हुआ कोइला बिछा है। उस बिछावनपर मुझसे बैठा नहीं गया। मैं दुकानके आगे होकर टहलने लगा।

विचित्र मुहल्ला था। वहाँ दिन शायद ही कभी होता हो। दिनमें रात होती थी और रातमें क्या होता होगा, पता नहीं। सटी-सटी कोठरियाँ थीं। वे कोठरियाँ ही दुकानें थीं और रातमें वे ही ख्वाबगाह। किसीपर सस्ती बिसाइतकी चीज़ें हैं तो किसीपर बासी साग-भाजी और चुचके फल रक्खे हैं। कहीं नाई है, कहीं हाथकी मशीन लिये दर्जी बैठा अमरीकन तर्जके

कपड़े सीं रहा है। यहाँ आसमान भी एक गली बन जाता है और कालकी गिनती रातोंके हिसाबसे होती है।

मैं बी० ए० का विद्यार्थी पेंटपर सिर्फ कमीज़ और कमीज़पर सिर्फ़ टाई लगाये उस दुकानके आगे टहलता हुआ बुआकी और उनके चारों ओरकी इस परिस्थितिकी विचित्रता-पर बिना सोचे जाने क्या क्या न सोचता रहा।

इतनेमें उस व्यक्तिने आकर कहा कि वह आपको बुला रही हैं।

मै चलने लगा। तब एकाएक लगभग मुझे बाँहसे पकड़कर रोकते हुए उसने कहा—

"एक मिनट! बस एक मिनट!"

यह कहकर मुझे वहीं छोड़ लपकते हुए वह आगे बढ़ गया। लौटा तो उसके हाथमें काग़ज़में लिपटा एक पान था। उसे सामने करके कहा—लीजिए।

मैंने चुपचाप पान ले लिया।

"सुरती?"

मैंने कहा—जी नहीं, और कुछ नहीं चाहिए।

वह मुझे शायद सकुंचित नहीं रखना चाहता था। उसने अपनी बंडीकी जेबमें हाथ डाला और वहाँसे एक डिबिया निकालकर उसे खोलकर मेरे सामने पेश करते हुए कहा—बिनारसी सुरती है, बाबू!

मैंने कहा—मैं—

"(इतने) रुपए सेरवाली है, बाबू, खास बिनारसी दुकानकी।"

मुझे याद नहीं रहा कि ठीक कितने रुपये सेरवाली वह सुरती थी। जरूर वह सुरती अच्छी ही रही होगी। उसे इन्कार करनेकी लाचारी पर मैं कुछ लजित हो आया। मैंने कहा—जी, मैं—

व्यक्तिने सदय भावसे मेरी असमर्थतापर हँस दिया—हें-हें-हें-हें!

मैं चला आया। आकर देखा कि कपड़ोंका ढेर अपने स्थानसे सरका दिया गया है और नीचे गुदगुदा करनेके लिए कई कपड़े डालकर ऊपर एक नई-सी सुजनीको ठीक-ठीक बिछानेमें बुआ लगी हुई है। मुझे आते देखकर कहा—

"आओ, अब जरा लेट लो।"

मैंने पूछा—तुमने खाना खा लिया है?

"अभी खाती हूँ।"

"तो खा लो।"

"बस खाती हूँ। तुम यहाँ बैठो तो।"

मैं बिछी सुजनीपर आ बैठा। उन्होंने दूरसे ही दो तकिए मेरे सामने डाल दिये। कहा—लेट न जाओ।

मैंने कहा—लेट जाऊँगा।

इसपर बिना कुछ कहे एक वे अवशिष्ट जूठी थालीको माँजने लगीं। माँजकर फिर उसी थालीमें खाना परोस लेकर मुझे अपनी ओर देखते हुए देखकर बोलीं—आओ, अब साथ दोगे?

मैंने कहा—मेरा साथ तो तुमने दिया नहीं—

बोलीं—अब तुम साथ नहीं दे सकते?

मैंने कहा—देख लिया, बुआ, तुम मेरा साथ नहीं चाहतीं।

"तुम्हारे साथके लायक मेरा क्या मुँह है!" कहकर वे थाली उठा एक कोनेमें चली गईं।

खा पीकर तभीके तभी बर्तन माँजने लगीं। मैंने कहा—यह पीछे नहीं हो सकता?

बोलीं—अभी दो मिनटमें सब हुआ जाता है।

मैं उधरसे आँख मोड़कर, तकिया दबा, करवट लेकर पड़ रहा। उस समय मैं यह भूल गया कि मेरा आनेवाला कल इस आजकी ही भाँति नहीं होनेवाला है, जाने वह कैसा हो; भूल गया कि कुछ देर बीतते न बीतते मुझे इस परिस्थितिसे अपनेको तोड़ लेना है। ऐसा मालूम हो आया कि मैं यहीं-का हूँ, यहाँ ही होनेके लिए हूँ, और इसके इधर-उधर मेरे लिए कुछ भी स्वाभाविक नहीं रह गया है। कहाँ मेरा कालिज है; कहाँ विवाहकी बातचीत; कहाँ माँ और मेरे अपने जीवनके मनसूबे? क्या वे सचमुच कहीं भी हैं? मानों कहीं कुछ न रहा। भविष्यकी आवश्यकता ही मिट गई। जो है, वही सब है। वह कालके अधीन है, यह तब ज्ञान ही न रहा। ऐसा भी न अनुभव हुआ कि वाद-विवादद्वारा, प्रश्नोत्तरद्वारा, सफ़ाई-तफ़सीलद्वारा भरनेके लिए कोई अंतर भी हमारी परस्परकी स्थितियोंके मध्य बाक़ी बचा हुआ है। मानों सब कुछ ठीक है और हम दोनोंका यहाँ इस विधि होना भी उस 'सब ठीक' का ही भाग है। जो बिना त्रिकाल-भेदके सदा-सर्वदा वर्तमान है, उसीके निर्देशपर मानों मात्र वर्तमान होकर मैं वहाँ था।

इसी जगनींदीमें सुना—सो गये ?

करवट लेकर देखा—बुआ मेरे बिछावनके किनारे धरतीपर बैठी हैं, पूछ रही है—'नींद आ गई थी क्या ?'

"नहीं तो—"

"नहीं आई तो अब जरा नींद ले लो।'

"तुम्हें अब कुछ और काम है ?"

"काम ?"

"कुछ और काम न हो तो—"

"कामकी तो कमी नहीं है। लेकिन वह देखा जायगा। पर तुम—"

"बुआ, तुम यहीं बैठो। काम आज छोड़ दो।"

"छोड़ तो दिया है और बैठी भी हूँ।"

मेरे मनमें उस समय बहुत-से प्रश्न थे। आज जो बुआकी अवस्था है उसके लिए वे स्वयं जिम्मेदार नहीं हैं, यह बात चित्त पूरी तरह नहीं मान पाता था। फिर भी इस अवस्थामें भी बुआके व्यवहारमें कुछ ऐसी स्वाभाविकता थी कि मेरे लिए संभव न हुआ कि मैं अपने अहंभावमे उनपर करुणा करूँ। फिर क्या करूँ ? मैंने अवश भावसे कहा—

"बुआ !—"

वे बोलीं—कहो, कहो। रुक क्यों गये ?

मैंने अटककर कहा—मेरी कुछ समझमें नहीं आता है। यह जगह मुझे बुरी मालूम होती है।

"जगहको अच्छी कौन कहता है। पर जगह तो है।

कभी जगह-भर होनेका ही सवाल बड़ा होता है। तुम साफ़ कहो न, प्रमोद, कि क्या तुम्हारी समझमें नहीं आता है?"
कहकर वह जाने किस दृष्टिसे मुझे देख उठीं। वह दृष्टि मुझे भली नहीं मालूम हुई।

मैंने कहा—तुम यहीं रहोगी? इसी जगह? कबतक रहोगी?

"अभी तो इसी जगह हूँ। इस कोठरीमें मैं न रहूँगी, कोई और रहेगा। ये कोठरियाँ तो आबाद ही रहेंगी। इनमें रहने लायक आदमी बहुत हैं। और आगेका हाल मैं नहीं जानती। हाँ, समझती हूँ कि ज्यादह दिन मैं यहाँ नहीं रह पाऊँगी?"

"कहाँ जाओगी?"

"कौन जानता है!"

"क्यों जाओगी?"

उन्होने स्मित हाससे कहा—

"तुम समझते हो यह आदमी जिसके साथ मैं रह रही हूँ मुझे ज्यादह दिन रख सकेगा? नहीं; मैं जानती हूँ एक दिन यह मुझे छोड़कर चला जायगा। तभी इस कोठरीसे मेरे उठनेका भी दिन होगा।"

जिस प्रकृत और स्थिर भावसे वे यह कह रही थीं उससे मैं मानों दबा आ रहा था। मैंने पूछा—तब क्या करोगी?

"क्या करूँगी, यह मैं अभी क्या जानती हूँ। क्या कोशिश करके भी वह जान सकती हूँ? पर एक बात जानती हूँ—"

कहते-कहते एकाएक अटककर रुक पड़ीं और बँधी निगाहसे मुझे देख उठीं। मैंने डरते-डरते पूछा—क्या?

"वेश्यावृत्ति नहीं करने लगूँगी। इसका विश्वास रक्खो।"

मैं सुनकर घबरा गया।

वह कहती रहीं—

"....जिसको तन दिया, उससे पैसा कैसे लिया जा सकता है, यह मेरी समझमें नहीं आता। तन देनेकी ज़रूरत मैं समझ सकती हूँ। तन दे सकूँगी। शायद वह अनिवार्य हो। पर लेना कैसा? दान स्त्रीका धर्म है। नहीं तो उसका और क्या धर्म है? उससे मन माँगा जायगा, तन भी माँगा जायगा। सतीका आदर्श और क्या है? पर उसकी बिक्री—न, न, यह न होगा। अगरचे सोचती हूँ कि—"

वे यह सब मुझे कह रही थीं, ऐसा बिल्कुल प्रतीत नहीं हुआ। मानो अपनी ही कल्पनाओंको उत्तरद्वारा निरुत्तर करना चाहती हों। मैंने कहा—

"बुआ, नाराज़ न होना। लेकिन मैं पूछता हूँ, ऐसी तुम क्यो होगी? पतिको क्यो छोड़ आईं?"

बुआने थिर भावसे मुझे देखते हुए कहा—

"तुमसे नाराज़ होऊँगी, यह क्या तुम संभव समझते हो? पतिको मैंने नहीं छोड़ा। उन्होने ही मुझे छोड़ा है। मै स्त्री-धर्मको पति-व्रत धर्म ही मानती हूँ। उसका स्वतंत्र धर्म मै नहीं मानती। क्या पतिव्रताको यह चाहिए कि पति उसे नहीं चाहता तब भी वह अपना भार उसपर डाले रहे? वह

मुझे नहीं देखना चाहते, यह जानकर मैंने उनकी आँखोंके आगेसे हट जाना स्वीकार कर लिया। उन्होंने कहा—'मैं तेरा पति नहीं हूँ।' तब मैं किस अधिकारसे अपनेको उन-पर डाले रहती? पतिव्रताका यह धर्म नहीं है—"

"बुआ! बुआ! यह तुम क्या कह रही हो? यह सब क्यों हुआ?"

"क्यों हुआ, यही तो तुम्हें बतलाती हूँ। ब्याहके बाद मैंने बहुत सोचा, बहुत सोचा। सोचकर अंतमें यह पाया कि मैं छल नहीं कर सकती। छल पाप है। हुआ जो हुआ, ब्याहताको पतिव्रता होना चाहिए। उसके लिए पहले उसे पतिके प्रति सच्ची होना चाहिए। सच्ची बनकर ही समर्पित हुआ जा सकता है।—प्रमोद, शीलाके भाईको तुम जानते हो?—"

इस प्रश्नपर मैं उनको देखता रह गया।

"उनका एक पत्र आया था। पत्रमें कुछ विशेष नहीं था। यही लिखा था कि 'मैं अब सिविल सर्जन हूँ। शादी नहीं हुई है, न करूँगा। तुम्हारा विवाह हो गया है, तुम सुखी रहो। मेरे लायक़ कुछ सेवा हो तो लिख सकती हो।' उस पत्रको लेकर ही मेरे मनमें सोच-विचारका चक्कर चला था। मैंने जवाबमें लिख दिया कि 'आपके पत्रके लिए कृतज्ञ हूँ। पर आइंदा आप कोई पत्र न भेजें। मैं सुखी होनेकी कोशिश कर रही हूँ।' जवाब देनेसे पहले दोनों पत्रोंका ज़िक्र तुम्हारे फूफासे कर देना ज़रूरी था।

सुनकर उन्होंने कहा कि मुझसे कहनेकी कुछ ज़रूरत नहीं है। यही था तो मुझसे शादी क्यों की? कुछ देर बाद उन्होंने कहा कि मैं हरामजादी हूँ। मैने कोई प्रतिवाद नहीं किया। उस दिनसे तुम्हारे फूफा मुझसे किनारा करते चले गये। मुझे तो अब नाराज़ होनेका भी अधिकार न था। उन्होंने मेरी परवाह करनी छोड़ दी। मै इस योग्य थी भी। उनकी पर्वाहका अधिकार मुझे क्या था? काम करती थी और जो मिलता उससे पेट भरकर पड़ रहती थी। पर मुझे ऐसा लगा कि उनकी आँखोमें अब भी मैं काँटा हूँ। इसकी वजह भी मुझे दीखी कि मेरी उपस्थिति उनको खटके। यह देखकर मैंने एक रोज़ उनसे जाकर कह दिया कि मुझे आप चाहें तो घरमेसे दूर कर सकते है। उन्होंने कहा—'हाँ जाओ। अपने मैके चली जाओ।' मैने कहा—'वहाँसे तो मैं कट-कर आगई हूँ। आपकी खुशीसे तो मैं वहाँ जा सकती हूँ, आपकी नाराज़ीमें वहाँ जाना मेरा धर्म नहीं है।' उन्होंने कहा कि 'फिर जो चाहे कर, जहाँ चाहे जा।' मैंने पूछा —'कहाँ जाऊँ, क्या करूँ?' उन्होंने कहा कि 'जान न खा, चल दूर हो।' उसके बाद फिर कुछ दिन बीत गये। मैं उनके राहकी बाधा थी। एक दिन उन्होंने एकदम आकर कहा—'चल, निकल यहाँसे।' मैंने आज्ञा न माननेकी जिद नहीं की। मुझे वहीं शहरमें एक दूर कोठरीमें लाकर वह खुद ही छोड़ गये। साथकी ज़रूरी चीज़-वस्त भी उन्होंने लाकर दे दी थी। यह कुल कहानी है।"

मैं बुआकी तरफ़ देखता रहा। उनके चेहरेपर कोई मैल नहीं दीखा। मुझे हैरानी थी। मानों जो हुआ, उसकी शिकायत उन्हें नही है। मैंने बड़े क्लेशसे कहा—तुम घर क्यों नहीं आ गईं, बुआ? इस आदमीके साथ बसनेके लिए यहाँ क्यों चली आईं?

बोलीं—प्रमोद, मैं तुझे कैसे बताऊँ। मैं घर नहीं आ सकती थी। एक बार घर आकर मैं समझ गई थी कि वैसे मैके जाना ठीक नहीं है। स्त्री जबतक सुसरालकी है, तभी तक मैकेकी है, सुसरालसे टूटी, तब मैकेसे तो आप ही मैं टूट गई थी।

मैं विस्मयसे उनकी ओर देखता रहा। उनके शब्दोंका कुछ विशेष अर्थ मुझे नहीं मिलता था, इससे मुझे रोष भी आया। मैंने कहा—यह क्या कह रही हो? तुम घर नहीं जा सकती थीं, यहाँ आकर एक अन्य पुरुषके साथ बस सकती थीं—यह कैसी बात कहती हो?

"घर तो, हाँ, नहीं जा सकती थी। एक अन्य पुरुषके साथ यहाँ बसनेकी बात मैं नहीं जानती। लेकिन वह पुरुष अन्य क्यों है?"

"अन्य क्यों है!"

"हाँ, अन्य तो वह नहीं है। यहाँ क्या अन्य भावसे मैं उससे व्यवहार करती दीखती हूँ?"

"वह पति है?"

"पति!—मैं नहीं जानती। लेकिन मेरा अस्तित्व मेरे

लिए नहीं है। इस समय तो बेशक मैं उस पुरुषकी सेवाके लिए हूँ।"

"सेवा?"

"हाँ, सेवा क्यों नहीं? मैं जब वहाँ कोठरीमें अकेली थी, तब मरी क्यों नहीं, क्या यह जानते हो? मैंने सोचा था और चाहा था कि मैं मर ही जाऊँगी। ऐसे जीनेमें क्या है। लेकिन एकाएक मुझको पता लग आया कि जिसने जीवन दिया है, मौत भी उसीकी दी हुई मैं ले सकती हूँ। अन्यथा अपने अहंकारके वश मरनेवाली मैं कौन होती हूँ। भूखसे मरना पड़े तो मैं मर भी जाऊँ, पर सोच-विचारकर अपघात कैसे कर सकती हूँ। ऐसे समय भूखके तीसरे रोज इसी आदमीने खतरा उठाकर मुझे पूछा था। उस आदमीके यो पूछनेमे क्या बुराई थी? शायद मेरे रूपका लोभ तो उसे था, लेकिन उसके लिए मैं उसे दोष क्या देती। वह विघ्नोकी तरफ़ अंधा होकर मेरे पास आया। उसका अपना परिवार था, मेली-जोली थे। उनकी ओरसे लापर्वाह होकर ताने और धमकी सहकर, पहले चोरी फिर उजागर, उसने मुझे सहायता दी। उसकी चोरीमें मेरा भाग न था। और सहायता और कुछ नहीं—यही कि कोइला ला दिया, सीधा लाकर रख दिया, और ढारसकी दो-एक बातें कह दीं। मैंने मौतसे तो मुँह मोड़ ही लिया था। पर उधरसे मुँह मोड़कर जीनेके संकल्पकी ओर उन्मुख हुई, तभी सामने इस आदमीकी सहायता आ गई। उससे मुँह मोड़ती तो किस

न्यायपर ? मैंने उस सहायताको कृतज्ञताके साथ अंगीकार कर लिया। प्रमोद, तुमने उसे देखा तो है। मेरे रूपका लोभ उसपर चढ़ता गया। वह नशा हो आया। मुझे उस समय उसपर बड़ी करुणा आई। प्रमोद, तुम्हें कैसे बताऊँ, तुम बालक हो। लेकिन इस अभागे आदमीका मद उसपर इतना सवार हो गया कि मैं नहीं कह सकती। अपने परिवारको वह भूल गया, अपने कारोबारको भी भूल गया। मेरे लिए सब स्वाहा करनेपर तुल पड़ा। एक रोज़ मुझसे बोला—'चलो, भाग चलें।' मै उसे बोध देती तो क्या वह सुनता ? गर्म तवेपर जैसे जलकी बूँद चटककर छिटक रहती है वैसे ही मेरी ओरसे कोई ठंडा बोध तब स्फोट ही पैदा करता। मैंने उस बेचारेसे पूछा—'कहाँ चलोगे ?' बोला—'जहाँ कहो चलूँ। मेरी प्यारी, तुम मेरी सर्वस्व हो।' जैसी मैं उसकी प्यारी थी और प्यारी हूँ, वह मै ही जानती हूँ। उसे अपने मोहका ही प्यार था। लेकिन उसे इसका पता न था। उस समयके मेरे जीकी हालत मत पूछो। ऐसा त्रास मैंने बहुत कम पाया है। उसका प्रेम स्वीकार करनेकी कल्पना भी दुर्विसह्य थी। पर उसका दायित्व क्या मुझपर न था ? और यह भी ठीक है कि उस समय उसका सर्वस्व मैं ही थी। मैं उसके हाथसे निकलती तो वह अनर्थ ही कर बैठता। अपनेको मार लेता, या शक्ति होती तो मुझे मार देता। सच कहती हूँ, प्रमोद, कि उस समय उस आदमीपर मुझे इतनी करुणा आई कि मैं ही जानती हूँ। मैं उसके इस भ्रमको किसी भाँति

न तोड़ सकी कि मैं उसकी हूँ, उसपर मुग्ध हूँ। ऐसा करना निर्दयता होती। मेरे पास जो कुछ बचा-खुचा था, मैंने उसे सौंप दिया। हजार-बारह सौसे ज्यादहका वह माल न होगा। सब कुछ उसे देकर इस जगहका नाम मैंने सुझाया और कहा—'वह दूर जगह है, वहीं चलो।' जानते हो प्रमोद, इस जगहका नाम क्यो बताया? इस लिए कि मैं जानती थी कि जगह तुम्हारे पास है और एक न एक रोज़ मैं तुम्हें जरूर देख पाऊँगी।"

मैं बुआको देखता रह गया। मेरे भीतर जाने कैसी उथल-पुथल मची थी। मै नहीं जानता था कि मैं क्या चाहता हूँ—इस सामने बैठी प्रगल्भ नारीको घृणा करना चाहता हूँ, या उसके प्रति कृतज्ञ होना चाहता हूँ। वह नारी अति निर्मम स्नेह-भावसे मुझे देखती रही, कहती रही—

"....लेकिन यह स्वप्नमे भी न सोचा था कि खोजते हुए तुम्हीं मुझे पा लोगे। सोचा यह था कि जब चित्त न मानेगा तब अपने प्रयत्नोंसे दूरसे ही तुम्हे देखकर जी भर लिया करूँगी। प्रमोद, तुम मुझे घृणा कर सकते हो। लेकिन फिर भी तो मैं तुम्हारी बुआ हूँ...."

मैं उस काल अत्यंत अवश हो आया। जी हुआ कि यहाँसे भाग सकूँ तो भाग जाऊँ। लेकिन जकड़ा बैठा रह गया। मनपर तब बहुत बोझ पड़ रहा था। न क्रोधमें चिल्लाया जाता था, न स्नेहके आवेगमें रोया जाता था।

"...प्रमोद, मेरी अवस्था देखते तो हो। तुमसे छिपा-ऊँगी क्या ? यह गर्भ इसी आदमीका है।...."

कहकर ऐसे ठंडे निर्दय भावसे उन्होंने मुझे देखा कि उस निगाहको न सँभालकर मैंने अपना मुँह तकियेमें छिपा लिया।

"....तुमको लाज आती है। लाजकी बात ही है। लेकिन मैं जानती हूँ कि इस आदमीको अब मुझसे विरक्ति हो रही है और अपने परिवारकी याद आ रही है। जब सबको छोड़कर मुझे साथ ले चलनेको उतावला था, तब भी मैं जानती थी कि थोड़े दिनों बाद इसे लौटकर अपने परिवारके बीच आ जाना होगा। जानती थी कि इसी अवश अनुरक्तिमें-से एक दिन प्रबल विरक्तिका भाव फूटेगा। जानती थी, इसी लिए मै उसे साथ ले आई। वह बेरुख़ीका भाव अब शुरू हो गया है। उसे अब चले ही जाना चाहिए। परिवार वहाँ अकेला है। मुझे वह नहीं झेल सकता। मेरी कोशिश है कि वह मुझसे उकता जाय। अपनी अवस्था मैं जानती हूँ। पेटमें बालक है। लेकिन ऐसी अवस्थामें भी स्वार्थकी बात सोचना ठीक नहीं है। मै उसे उसके परिवारमें लौटा कर ही मानूँगी। अब समय आया है कि उसे इस बातकी अक़ल आ जायगी। अब उसका मोह टूट गया है। वह जान गया है कि मैं उसकी सर्व्वस्व नहीं हूँ, मैं बस एक बदज़ात व्यभिचारिणी स्त्री हूँ—"

तकिएमें मुँह दबाए मैं यह सब सुनता रहा। इतनी वेदना मैंने शायद ही कभी पाई हो। मेरा मन भीतर ही भीतर मसोस मसोस कर रह जाता था और मुझे कुछ भी कल न

मिलता था। एक आँसू तक भी उठकर आँखोंमें नहीं आ सका, तकलीफ इतनी अधिक थी।

"मैं कहती हूँ, महीने दो महीनेके भीतर यह आदमी यहाँसे चल देगा और मेरे पास एक भी पैसा नही छोड़ेगा। वह जानता है कि पैसेकी दुनिया है। इसलिए सातसौ आठ-सौ जो रुपया हाथ बचेगा, वह आड़े दिन काम ही आयगा। वह यह भी जानता है कि एक फ़ाहिशा औरत जी चाहे जैसे जी लेगी, पैसा उसके पास छोड़नेकी कोई ज़रूरत नहीं है। मैं यह सब जानती हूँ। जानती हूँ, इसीसे फ़िक्र नहीं करना चाहती।....पर फिर इस पेटके बालकका क्या होगा ?...."

यह कहनेके साथ उन्होंने एक भरी साँस ली जिससे मेरा मसोसा हुआ मन एक साथ काँपकर भीग गया।

"....क्या होगा ? भगवान् ही जानता है, क्या होगा। मुझे और कोई दूसरा आसरा नहीं है। पर भगवान सर्वान्तर्यामी हैं, सर्व शक्तिमान् है। मुझे कोई और आसरा क्यों चाहिए ?—"

इसके बाद कुछ देर चुप्पी रही। मैं वैसे ही तकिएमें मुँह दाबे औंधा पड़ा रहा। फिर बुआ बोलीं—

"प्रमोद, इसीसे कहती हूँ कि जब तक पास है तब तक वह पुरुष अन्य नहीं है। मेरा सब कुछ उसका है। उसकी सेवामें मैं त्रुटि नहीं कर सकती। पतिव्रत धर्म यही तो कहता है!—"

इसके बाद बहुत देरतक कोई कुछ नहीं बोला। चुप, सुन्न, मानों सब कुछ ठहर गया। मानों समय जम कर खड़ी

शिला हो गया। नीरवता ऐसी हो आई कि हमारे साँस ही हमें हाय-हाय शोर करते हुए जान पड़ने लगे। ऐसे कितना समय बीता। त्रास दुर्वह हो गया। तब उस बर्फ़ीली चट्टान-सी जमी हुई चुप्पीको तोड़कर बुआने कहा—

"प्रमोद, तुम सोये तो अवश्य नहीं हो। और मैं जाने क्या क्या बकती रही। कहनी-अनकहनी जाने क्या क्या कह गई हूँ। दुनियामें मेरे एक तुम हो कि जिससे दुराव मुझसे नहीं रखा जायगा। अच्छा, अब तुम आराम करो। मैं ज़रा पड़ौसके एक बालकको देख आऊँ।"

मैं पड़ा ही रहा, बोला नहीं। और बुआ चली गईं।

६

मैं वहाँ सो नहीं सका। मेरा मन बहुत घबराने लगा। जो कहानी सुनी है उसे कैसे छूँ, कैसे झेलूँ? मनसे वह सँभाली नहीं जाती थी। इलाज यही था कि मैं उससे बचकर चला जाऊँ। चला जाऊँ उसी अपनी दुनियामें जहाँ वस्तुओंका मान बँधा हुआ है और कोई झमेला नहीं है। जहाँ रास्ता बना-बनाया है और खुदको खोजनेकी ज़रूरत नहीं है। जिज्ञासा जहाँ शान्त है और प्रश्न अवज्ञाका द्योतक है।

इन बुआका मैं क्या बनाऊँ? उनकी इस कोठरीमें मैं अपना ही क्या बनाऊँ? यहाँ सब कुछ उलट-पुलट गया मालूम होता है। पति-गृहको छोड़कर यहाँ गंदे व्यभिचारमें रहनेवाली नारी पति-धर्मकी बात करती है और उसको सुनता हुआ एक पढ़ा-लिखा मुझ जैसा समझदार युवक उस नारीको

लांछित नहीं करता बल्कि उसके प्रति और खिंचकर रह जाता है ! ओः असह्य है !

यह एकदम ग़लत है। बिल्कुल ग़लत है। मैं चला जाऊँगा। मैं नहीं रहूँगा यहाँ। बुआ घर नहीं चलेंगीं। देख लिया, मैं उन्हे घर नहीं ले जा सकता हूँ। मै उन्हें उनकी राहसे क्या एक पग भी इधर-उधर कर सकूँगा ? मुझे नहीं मालूम। मैं शायद कुछ नहीं कर सकूँगा। वह मुझे कुछ नहीं करने देंगी। उनकी मति उलट गई है। वह नहीं सुधरना चाहतीं। तब मै उन्हे क्या सुधारूँ ? और तो और, मुझे इसीमे शंका होने लगी कि सुधारकी जरूरत उनमें है कि मुझमें है। यह शंका असह्य ही थी। मैं बी० ए० में पढ़ने-वाला युवक उच्च विचारोंमें रहता था, उच्चताकी तरफ़ देखता था। मै अपने महत्त्वसे भरा था। उस महत्त्वसे कुछ इधर-उधर, जिसे निचाई समझता हूँ वहाँ भी, कुछ सचाई है, यह नहीं जानना चाहता था। जानकर सहना नहीं चाहता था। मुझको बड़ा जो बनना था।

मैं लेटे-लेटे सहसा उठा। अपने नीचे बिछे हुए कपड़ोंको एक-एक कर उठाया और तह करके चिनकर रख दिया। सोचने लगा कि इस कमरेकी व्यवस्थाको संपूर्ण बनानेके लिए क्या मै कुछ और नहीं कर सकता हूँ। पर ऐसा कोई काम नहीं सूझा। कमरेकी सब चीज़ें ठीक अपनी अपनी जगह थीं। साफ़ कमरेको एक बार और भी अपनी ओरसे झाड़ू देकर साफ़ कर जाऊँ, सोचा, इसमें कुछ हरज नहीं है। जूता पहनकर और उसके

तस्मे बाँधकर बुहारी ले मैं यही काम करने लगा। बिल्कुल चुपचाप वहाँसे चले जानेका साहस नहीं होता था। जीकी कृतज्ञता कुछ तो व्यय हो, नहीं बहुत भारी मालूम होती थी।

लेकिन झाड़ू देकर चुक न पाया था कि बुआ आ पहुँचीं। मैं बहुत लज्जित हो गया और जल्दीमें झाड़ू हाथसे अलग कर ऐसा खड़ा हो गया कि जैसे मैं बिल्कुल निर्दोष हूँ, ग़लतीसे अभियुक्तके कटघरेमें खड़ा हूँ।

" प्रमोद, यह तुम्हें क्या सूझ गया है! क्या अभी चले जा रहे हो? सोये नहीं?"

" हाँ, अब जाना चाहिए।"

" जाना तो चाहिए, पर कमरेमें ऐसा कूड़ा तो बहुत नहीं मालूम होता है कि बुहारीकी ज़रूरत हो। और क्यों भाई, क्यों अब जाना ही चाहिए?"

" घरपर माँने बुलाया है। मैंने कहा था न, कि ब्याहकी बातचीत है। सो जाना है।"

" ब्याहकी बातचीत?"

" मैंने कहा तो था—"

" मैंने सुना न होगा। तो ब्याहकी बातचीत चल रही है। तेरे ब्याहमें तो मैं भी शरीक होना चाहती थी—"

" चाहती थी के क्या माने? जरूर शरीक होओगी।"

उन्होंने लज्जित वाणीमें कहा—

" हाँ रे, जरूर शरीक होऊँगी। मैंने करम जो ऐसे किये हैं!—बातचीत पक्की हो गई?"

" मेरे बिना पक्की कैसे हो जायगी, बुआ, और मैं अभी ब्याह नहीं करूँगा।"

उन्होंने बात आगे न बढ़ने दी। कहा—

" कब जायगा? अभी? गाड़ी अभी जाती है?"

इस बातका उत्तर न देकर मैंने पूछा—

" बुआ, सच, तुम ब्याहमें भी न आओगी?"

" कैसे आऊँगी?"

" कैसे क्या होता है! आनेकी तरहसे आओगी। मैं समाजकी बिल्कुल पर्वाह नहीं करता।"

" तुम परवाह नहीं करो, भाई, तो चल सकता है। लेकिन मैं तो ऐसा नहीं कर सकती कि पर्वाह न करूँ। मै समाजको तोड़ना-फोड़ना नहीं चाहती हूँ। समाज टूटी कि फिर हम किसके भीतर बनेगे? या कि किसके भीतर बिगड़ेगे? इस लिए मै इतना ही कर सकती हूँ कि समाजसे अलग होकर उसकी मंगलाकांक्षामे खुद ही टूटती रहूँ।—क्या कभी सोचा था कि तुम्हारा ब्याह होगा और मै अलग मन मसोसकर रह जाऊँगी। लेकिन चलो, जो होना है होगा ही।"

मै इस बातचीतके बीचमे कपड़ोंके चिने हुए ढेरपर ही आ बैठा था। मैने वहींसे कहा—तो मुझे भी तुम्हारे पास आनेकी ज़रूरत नहीं है। यही न?

बुआने अकुंठित भावसे कहा—

" हाँ, यह भी। लेकिन ज़रूरतसे जो काम होते हैं उनकी मर्यादाओंको लाँघकर कभी बिल्कुल ग़ैरज़रूरी बाते

भी हो पड़ती हैं। यह तुम्हारा आना ही क्या बिल्कुल वैसी ही गैरज़रूरी बात नहीं है? लेकिन फिर भी कोई ज़रूरत उसको नहीं रोक सकी और तुम यहाँ आ ही पड़े। ऐसे ही—"

मैंने बीचमें बात काटकर कहा—अब न आऊँगा।

"नहीं आना चाहिए। मै तो तुमको अपनी ओरसे भी यही समझानेवाली थी। जो समाजमें हैं, समाजकी प्रतिष्ठा क़ायम रखनेका ज़िम्मा भी उनपर है। वह उनका कर्तव्य है। जो उससे उच्छिष्ट हैं, या उच्छिष्ट बनना पसंद कर सकते है, उन्हींको जीवनके साथ नये प्रयोग करनेकी छूट हो सकती है। प्रमोद, यह बात तो ठीक है कि सत्यको सदा नये प्रयोगोंकी अपेक्षा है। लेकिन उन प्रयोगोंमें उन्हींको पड़ना और डालना चाहिए जिनकी जानकी अधिक समाज-दर नहीं रह गई है।—"

मैं अंडरग्रेजुएट उनकी कुछ भी बात नहीं समझ सका। आज वे बाते मुझे याद आती हैं। और मुझे निश्चय हो गया है कि सचमुच जो शास्त्रसे नहीं मिलता वह ज्ञान आत्म-व्यथामेंसे मिल जाता है। नहीं तो इतने गंभीर जीवन-तथ्यको इस स्वाभाविकतासे वशमें करने और व्यक्त करनेके बुआके अधिकारका और भेद क्या हो सकता है। मैंने उस समय कहा था—

"बुआ, मैं अब नहीं आऊँगा। मैं सहायताका मन लेकर आया था। देखता हूँ, सहायता कोई नहीं लेता है। बस, मैं अब नहीं आऊँगा।"

मैं अब सोचता हूँ कि वह कहने योग्य हीन-बुद्धि मेरी तब किस भाँति हो गई थी। इसके जवाबमें बुआने जो कहा था मुझे आज खूब याद आता है। उन्होंने कहा था—

"प्रमोद, सहायताकी मैं भूखी नहीं हूँ क्या? तुमसे ही वह सहायता न लूँगी तो किससे लूँगी। लेकिन सहायताका हाथ देकर क्या मुझे यहाँसे उठाकर ऊँचे वर्गमें जा बिठानेकी इच्छा है? तो भाई, मुझे माफ़ कर दो। वैसी मेरी अभिलाषा नहीं है। सहायता मुझे इस लिए चाहिए कि मेरा मन पक्का होता रहे कि कोई मुझे कुचले, तो भी मै कुचली न जाऊँ, और इतनी जीवित रहूँ कि उसके पापके बोझको भी ले लूँ और सबके लिए क्षमाकी प्रार्थना करूँ। प्रतिष्ठा मुझे क्यों चाहिए। मुझे तो जो मिलता है उसीके भीतर सान्त्वना पानेकी शक्ति चाहिए।—"

उस समय तो मैं उनके शब्दोंको कुछ नहीं समझा था। और मैंने जवाबमें धीमेसे कहा था—मैं जाऊँ?

उन्होंने कहा—हाँ, जाना हो तो जाओ और सुखी रहो।

जाते-जाते मैंने मनको बहुत कड़ा करके कहा—कुछ ज़रूरत हो तो लिखना।

बुआने हँसकर कहा—हाँ लिखूँगी।

मैं खड़ा हो गया था, कोट बाँहोंमें डाल लिया था, हैट हाथमें था। इस भाँति, चलनेको उद्यत, मै उनके सामने खड़ा हुआ अपनेको भयंकर असमंजसमें अनुभव कर रहा था। झुककर उनके पैर छू लूँ? हाँ, ज़रूर छूने चाहिए।

पर मुझसे कुछ बन नहीं पड़ रहा था। उस समय मैंने, मानों देर हो रही हो इस भावसे, कलाईमें बँधी घड़ीको सामने करके देखा और ज़रा माथा झुका कर कहा—

"अच्छा बुआ, प्रणाम।"

और कहते ही मुड़कर चल दिया।

बुआने कहा—'सुखी रहो, भैया।' लेकिन उस आशीर्वादका स्नेह और कंपन कानोंकी राह प्राप्त करके मेरी गति और तीव्र हो गई, मानों रुका कहीं कि जाने कौन मुझे पकड़ लेगा। तेज़ क़दम बढ़ाता हुआ बाहर आया और सीधी स्टेशनकी राह पकड़ ली। बाहर वह कोइलेकी दुकान दीखी, जहाँ वह व्यक्ति तराजूकी डंडीपर हाथ रक्खे हुए ग्राहकको कोइला तौल रहा था। इस भयसे कि वह मुझे देख न ले, झटपट नीचे आँख डालकर मैं और तेज़ चालसे बढ़ता चला गया, बढ़ता ही चला गया।

७

घरपर माँने पूछा—कहाँ रह गये थे? सतीश कहता था कि तुम एक रोज़ उससे पहले कालिजसे चल दिये थे।

मैंने कहा—बुआको खोजता हुआ रह गया था। वे उस नगरमें रहती हैं।

जैसे किसीने उन्हें डंक मारा हो, माँने कहा—कौ-न!

"बुआ। मैं उनसे मिलकर आ रहा हूँ।"

"क्या-आ!"

"माँ, वे यहाँ नहीं आ सकतीं?"

माँने ज़ोरसे कहा—

“ सुन प्रमोद, तेरी बुआ अब कोई नहीं है, मेरे सामने उसका नाम न लेना । ”

“ लेकिन सुनती हो, अम्मा ” मैंने कहा—“ मैं उनको भूल नहीं सकता हूँ । ”

माँने कहा—तू जो चाहे कर । पर ख़बरदार जो मुझसे उसकी बात कही—कुल-बोरन कहींकी !

बुआके नामपर माँके भीतर जो कष्ट था उसका अनुमान लगाना मुश्किल है । वह कष्ट ही उनके शब्दोंमें प्रकट हो रहा था । लेकिन तब मै यह नहीं समझ सका था और उसी बातको लेकर माँसे मनमें कुछ दूरी बना बैठा था ।

यह कहना अनावश्यक है कि विवाहका जो प्रस्ताव उस समय उठाया गया था, उसे मैं स्वीकार न कर सका । माँ नाराज़ हो गई । लेकिन मैंने देख लिया कि दुनियामें मैं अकेला हूँ, कोई किसीका नहीं है, नाते-रिश्ते झमेले है ।

ज़िन्दगी बहती चली गई । बी० ए० का इम्तिहान नज़दीक था और मैं पोज़ीशन लाना चाहता था । बुआकी यादको मनमें गहरी बैठानेसे बचना चाहता था । क्या फ़ायदा ? फिर भी वह याद गहरेमे तो थी ही । उसके कारण इस दुनियाका बहुत कुछ व्यर्थ और निकम्मा मालूम होता था । सुख नीरस जान पड़ता और दुख सार । मनकी महत्वाकाक्षा कुछ अपनेमें बुझती-सी थी और आपसी स्पर्द्धा जिससे ज़िंदगीमें तेज़ी आती है हल्की और उपहास्य मालूम होती थी । पर मैं

मनकी इस हालतमें पतवार छोड़ अपनेको बहने देना नहीं चाहता था।

....वहाँ क्या हुआ होगा? क्यों जी, वह आदमी चला गया होगा? फिर क्या हुआ होगा?—ओह, कुछ भी हो। मैं इसमें क्या कर सकता हूँ? क्या मैं कुछ भी कर सकता हूँ? ....

मनमें एक गाँठ-सी पड़ती जाती थी। वह न खुलती थी, न घुलती थी। बल्कि, कुछ करो, वह और उलझती और कसती ही जाती थी। जी होता था, कुछ होना चाहिए, कुछ करना चाहिए। कहीं कुछ गड़बड़ है। कहीं क्यों, सब गड़बड़ ही गड़बड़ है। सृष्टि ग़लत है। समाज ग़लत है। जीवन ही हमारा ग़लत है। सारा चक्कर यह ऊँटपटाँग है। इसमे तर्क नहीं है, संगति नहीं है, कुछ नहीं है। इससे ज़रूर कुछ होना होगा, ज़रूर कुछ करना होगा। पर क्या-आ? वह क्या है जो भवितव्य है और जो कर्तव्य है?

कोई बात पकड़े न मिलती थी और मन घुट-घुटकर रह जाता था। इसीमे अपने साथियोंसे मेरा मिलना-जुलना बहुत कम हो गया था। वे मुझे चिढ़ाने लगे थे। पर उनका चिढ़ाना मुझे छूता भी न था। यह ख़याल तो चेतनामें बँधा था, बिखरा नहीं था, कि इम्तिहान होना है, उसमें नामवरीके साथ पास होना है और आगे बढ़ना है। पर जीवनकी सामाजिकताको निबाहनेकी ओर मनकी चिंता मंद हो गई थी। वह प्रवृत्ति ही सूख गई था। कम या बिल्कुल न मिलने-जुलनेसे, हँसी-विनोद खेल-

कूदमें शामिल न होनेसे, किसी तरहकी कोई कमी जीवनमें होती है, ऐसा बिल्कुल नहीं लगता था। मालूम ही न होता था कि कुछ करने योग्य मैं नहीं कर रहा हूँ। ऐसी ही मनकी अवस्थामें एक रोज़ कालिजसे उठकर रेल पकड़ मै उस नगरके स्टेशनपर आ उतरा।

पर कहाँ रक्खी थी वहाँ वह कोइलेकी दुकान! उस कोठरीमें कोई और जन आ बसे थे। पूछा ताछा, पर ठीक-ठीक कुछ पता नहीं चलता था। उस आदमीके बारेमें मालूम हुआ कि वह काफी दिनका यहाँसे उठ गया है, अपनी औरतको पीट-पाट कर छोड़कर भाग गया है। पर उस औरतका फिर क्या हुआ, यह पूरी तरह किसीको नहीं मालूम था। हाँ, मर्दके जानेके बाद भी वह एक-डेढ़ महीना तो यहाँ ही रही—यह ख़बर मिली। कपड़े सीती थी और काम चलाती थी। बड़ी भली औरत थी। दुख-दरदमे ढारस बँधाती थी, बच्चोंको घर बैठकर पढ़ाया करती थी और सबके छोटे-मोटे कामको तैयार रहती थी। पर फिर कहाँ गई, यह नहीं पता।

अधिक खोज-ख़बर लगाने पर पता चला कि उसको दिन पूरे लग रहे थे और उसे इसकी चिन्ता भी थी और कभी कभी अस्पताल जानेकी बात किया करती थी।

मैंने अस्पतालमें जाकर छान-बीन की। मिशनके अस्पतालमें पाँच महीने हुए एक मिनाल नामकी स्त्री आई थी। उसके वहाँ एक लड़की हुई। होनेके चौथे रोज़ उस लड़कीके माता निकली। वह जनरल वार्डमें थी, नर्सोंको ज्यादा याद

नहीं है। पन्द्रह दिनमें लड़कीकी चेचक ठीक हो गई होगी, क्यों कि उसी रोज़से माँ बेटीका नाम रजिस्टरमें नहीं है।

"कहाँ गई?"

मेरे इस प्रश्नपर अस्पतालकी बड़ी मेम-डाक्टर मुझे देखती रह गई। बोली—क्या आप सचमुच समझते हैं कि इस सवालका जवाब हम दे सकते हैं?

मैंने कहा—हाँ, हो भी सकता है कि दे सकें।

बोलीं—मुझे आपपर आश्चर्य है।

मैंने कहा—मै एक बात पूँछना चाहता हूँ। उन्होंने अपने बच्चेको मिशनमें तो नहीं देना चाहा?

बोलीं—हाँ, याद आया। कौन महीना?—सितंबर? ठीक है, ठीक है। वही केस होगा। क्या उमर थी?

"होगी चौबीस-पचीस।"

"ठीक। रँग साफ़?"

"हाँ, अच्छा रँग था।"

"ठीक ठीक। वही केस है। हमसे वह कुछ काम भी माँगती थी। नर्स बननेको तैयार थी। अँग्रेज़ी भी जानती थी न? अच्छी लड़की थी, मुझे याद है। हमने कहा, बच्चा मिशनको दे दो और तुम भी प्रभु ईसा-मसीहको मान लो तो यहाँ रह सकती हो और काम भी सीख जाओगी। उसने नहीं माना। हिन्दुओंमें यही तो है। वह तुम्हारी कौन है—उसको समझाना। ईशु ख़ुदाका नबी है। दुनियाको सच्ची

राह बतानेवाला वह है। उसपर ईमान लाना चाहिए। समझे? उसको समझाना।"

मैंने पूछा—तब फिर क्या हुआ? वह नहीं रही? चली गई?"

"हाँ, यहाँसे चली गई। इसके आगे शायद आपकी मदद करनेमें मैं असमर्थ हूँ।"

मेरी परीक्षाके दिन निकट आ गये थे। मैं ज़्यादा दिन वहाँ नहीं दे सका, चला आया।

अब मैं तो पढ़ रहा था। मुझको यह बात बहुत विचित्र मालूम होती थी कि छुटपनमें मैं जिन बुआके इतने पास था उन्हींको अब खोजकर भी नहीं पा सकता हूँ। वही जो मुझे इतना दुलार करती थीं, अब शायद मुझसे बचती हैं। मैं सोचता, यह दुनियामें क्या क्या हमने खड़ा कर लिया है जो दोके मनोंके स्नेहको ऐसे फाड़ देता है! मन क्या फटनेके लिए हैं? क्या वे आपसमें जुड़े रहनेके लिए नहीं हैं?

मेरे विवाह-संबंधकी फिर बात चल पड़ी थी। इस बारका रिश्ता माँ बहुत ही अच्छा समझती थीं। कुल-शील-संपदाकी दृष्टिसे तो अच्छा था ही, लड़की भी बहुत सुन्दर, सुशील और शिक्षिता थी। देर यह थी कि मै एक बार उनके यहाँ पहुँचकर कन्याको देख लूँ और कन्या मुझे देख ले। मैं इसको दिनोंसे टालता आया था। मुझे जाने क्यो अपने बारेमें बहुत संकोच होता था। अपनेमें मैं शंकित ही बना रहता था। किसी तरहकी अपनी बड़ाई भीतरसे उभरकर आती ही न

थी। प्रशंसक मेरे भी थे, लेकिन अपनी प्रशंसाका कारण मुझे अपनेमें नहीं मिलता था। इसके विपरीत, अपनेमें जो मुझे मिलता था उससे मैं कुछ और निराश हो आता था।

लेकिन इस बार मुझे वहाँ जाना ही पड़ा। और संयोगकी बात कि उन्हीं डाक्टर साहबके घर बुआसे भेंट हो गई!

देखता क्या हूँ कि जो डाक्टरके घरपर छोटे बच्चे-बच्चियोंको पढ़ा रही हैं, वे और कोई नहीं हैं, बुआ ही हैं। उस समय तो मैं कुछ नहीं बोला और उन्होंने मुझे देखकर न देखनेका-सा भाव दिखलाया; लेकिन उस कारण मैं वहाँ कुछ काल प्रकृतिस्थ नहीं रह सका।

लड़कीने मुझे नापसंद नहीं किया (जहाँ तक मैं यह बात जान सकता हूँ)। मेरे उन्हें नापसंद करनेका सवाल ही नहीं था। देखकर मैं उनके रूप-गुणकी समीक्षामें जा सका ही नहीं। उतनी सुध-बुध ही न रही थी। क्या वह मानव-कन्या है?—तब फिर किन्नर-लोककी परी क्या होती है। उन राजनंदिनी (यही नाम था) को पहली ही निगाह देखकर मेरा निश्चय बन चुका था। लेकिन दुर्भाग्यवश उस समय मेरा वाक्-चातुर्य मेरा साथ छोड़ जाने कहाँ चला गया था। मैं झेंपकर रह गया था, बोल कुछ भी नहीं सका था। इस अकृतार्थतापर अपनेसे उस समय मैं रुष्ट भी हो आया हूँगा। प्रतीत होता है, वह रोष हठात् प्रकट भी कुछ हो गया था। क्यों कि मुझे ज्ञात हुआ कि समझा यह गया है कि लड़की मुझे पूरी

तरह पसन्द नहीं है। निश्चय है कि इस भ्रमको मैंने यथा-शीघ्र पूर्ण सफलताके साथ छिन्न-भिन्न ही कर दिया था।

पर उस घरमें मेरी अभ्यर्थनाका आग्रह कुछ और बढ़ गया। सबको पहले ही मेरी खातिर मंजूर थी। लेकिन अब बात कुछ और थी। भावी सासजीकी बात तो बस पूछिए नहीं। वह हर वक्त मुझे घेरे रहती थीं। बात-बातमें मैंने उनसे कहा—बच्चे स्कूलमें तो पढ़ने जाते है न, या घरपर ही पढ़ते हैं?

उन्होने कहा—स्कूलमें तो जाते ही हैं। पर वहाँ कुछ पढ़ाई होती है! और यहाँ ऊधम इतना मचाते हैं कि रामराम। इससे एक तो मास्टरनी लगा ली है, एक मास्टर आता है। तीस रुपया माहवार मैं अलगसे पढ़ाईपर खर्च करती हूँ। तभी तो—

" मास्टरनी अच्छा पढ़ाती हैं?"

" हाँ, भली औरत है। गरीबिनी है। अच्छा बोलती बतलाती है और संतोषन भी है।"

" बच्चे उनसे खुश हैं?"

" हाँ, बच्चे खुश हैं। बच्चे तो बहुत ही खुश हैं। दो महीनेसे लगी है, लेकिन हमें तो उसका बहुत सहारा हो गया है।"

" यहाँ कहीं स्कूलमें भी पढ़ाती होंगी।"

" हाँ पढ़ाती है। हम क्या देते हैं,—ये ही आठ दस दे देते है। कोई ठीक अभी तय भी नहीं। आठ-दसमें भला क्या होता है। पर चलो गरीब है, सहारा ही सही। उसे बुलवाऊँ?"

मैंने कहा—नहीं नहीं, बुलवाओगी क्यों ?

उन्होंने कहा—ऐसी कोई बात नहीं। जब होता है मैं बुलवा लेती हूँ और वह आ जाती है। अकेली है। हमारे हाथका काम बँटा देती है तो उसका भी मन बहल जाता है और हमें भी सहारा होता है। अच्छी लड़की है, बातका बुरा नहीं मानती।

" मालूम होता है, तुम्हारे घरसे बहुत हिली है।"

" हाँ, आती-जाती है। इस ब्याहमें उसे बड़ा चाव है। गिरिस्तीका सुख बेचारीके कपारमें था नहीं। तुम्हें देखनेकी उसे बड़ी लालसा थी। जाने आज चली क्यों गई, ठहरी क्यों नहीं। काम होगा, नहीं तो तुमको तो वह बहुत देखना चाहती थी—"

" मुझको ? "

" हाँ, बड़ी (राजनंदिनी)का उससे बड़ा प्रेम हो गया है। हम सभी उसे चाहते है। लो, उसे बुलाती हूँ। मिलना—बोलना—"

मैंने शीघ्रतासे कहा—नहीं नहीं, क्या ज़रूरत है।

मैं सचमुच इन भावी साससे बातें बढ़ाना नहीं चाहता था। पर वह तो एक बार शुरू करके बातका अन्त न पाती थीं। फिर भी बोलीं—मैं अभी बिट्टनके हाथ उसे बुलाती हूँ।

मैंने जरा ज़ोरसे कहा—नाहक़ किसीको क्यों तकलीफ़ दोगी। रहने दो।

बोलीं—तकलीफ़! उसे कब कोई बुलाता होगा।

मैंने अनायास कहा—क्यों ?

बोलीं—अकेली बेवा है। कहीं दूरकी अपनेको बतलाती है। उसका कौन घर-कुटुम्बी यहाँ बैठा है।

उसी भावसे मैंने पूछा—यहाँ कहीं पास ही रहती होंगी।

" कुल तीन मिनिटका रास्ता है।"

मैंने जल्दीसे कहा—ख़ैर। कोई बुलानेकी ज़रूरत नहीं है।

" तो जाने दो। ठीक है, हैरान होगी बेचारी। अब तुम आराम कर लो।"

मैं आराम तो नहीं चाहता था लेकिन उस समय मुझे छोड़कर चले जानेके लिए मैं उनका कृतज्ञ हुआ।

उसी दिन शामको मैं बुआके यहाँ गया। स्कूलके पास ही वह एक छोटे क्वार्टरमें रहती थीं। मैं पहुँचा तब फ्रेमपर एक रूमाल काढ़ रही थीं। मुझे देखते ही कहा—'आओ' और पीढ़ा छोड़कर मेरे बैठनेको सामने सरकाकर रख दिया।

बैठा थोड़ी देर मैं उन्हे देखता रहा। कोई कुछ नहीं बोला। सफ़ेद बिना किनारकी धोती थी। बाल ढीले जूड़ेमें बँधे थे। आँखोकी स्निग्धता विशेषतासे निगाहको आकृष्ट करती थी। देह इकहरी और वशीभूत। मानों अपने भाग्यसे गहरा सौहार्द है, अनबन किसी प्रकारकी भी नहीं है। जो झेला है, सब पी गई हैं। सबका रस बन गया है, खार कोई नहीं है।

मैं ही बोला। मैंने कहा—मैं वहाँ गया था—

धीमेसे बोली—मैं जानती थी, तुम आओगे।

" अस्पतालमें भी गया था ।—तुमने मुझे नहीं लिखा !"

" क्या लिखती ?"

" अच्छा, मुन्नी कहाँ है ?"

" मर गई ।"

" मर गई !—कब मर गई ? कैसे मर गई ?"

" दस महीनेकी होकर मर गई । रोगसे मरी । कुछ भूखसे भी मरी ।"

मैं चुप पड़ गया । थोड़ी देर बाद कहा—

" मिशनवाले उसे माँगते थे । दे क्यों नहीं दिया ?"

वे चुप रहीं । अनंतर बोलीं—

" ग़लती हुई । पर माँ बनना ही ग़लती थी ।"

मैं चुप ।

पर चुप भी नहीं रहा गया, पूछा—

" यहाँ कैसे आई ?"

" भटकते-भटकते ही आई ।"

सुनकर और न पूछा गया, बैठा रह गया । पर तब भी तो मुझे ऐसा नहीं मालूम हुआ कि बुआ उस भटकनेका अब भी अंत चाहती हैं । आगे भी तो भटकना ही है । सदाके लिए भाग्यमें भटकना बदा है । मानों यह खूब जानती है, और जानकर अशेष भावसे तृप्त-काम होकर उसे ही अपना लें, यह चाहती हैं । जैसे किसी और ओर कृतार्थता नहीं है । किसी और ओर निगाह भी उठाकर देखना नहीं है ।

मैंने कहा—बुआ, अब ?

बोलीं—अब ? अब तो तेरी शादी है न ?

"हाँ, मेरी शादी है। क्या तुम जानती थीं कि शादी मेरी ही है ?"

"नहीं, यह नहीं जानती थी। राजनंदिनीकी शादी जानती थी। पर वही तेरी भी है, यह जानती तो क्या यहाँ मैं ठहरती ?"

"क्यों, ठहरती क्यों नहीं ?"

"मैं अपशकुन जो हूँ, भाई। असगुनसे बनता काम बिगड़ जाता है। अब भी मैं सोच रही हूँ कि क्या चली न जाऊँ ? पर, सुन, एक बात तुझसे कहती हूँ। यहाँ कोई बेवकूफ़ी मत करना। अब आ गया तो आ गया, फिर मेरे यहाँ मत आना। मेरे कुल-शीलका कुछ पता है ? इससे मेरे यहाँ आना-जाना ठीक नहीं है। और सुन, जैसे हो यह विवाह ठीक करना ही होगा। लड़की मेरी देखी भाली है। खूब सुन्दर है, और शीलवती भी है।"

मैंने अचानक कहा—तो तुम्हारी राय है, यह रिश्ता क़बूल कर लूँ ?

"ज़रूर कर लो।"

"अच्छी बात है, कर लूँगा। लेकिन अबतक कुछ और सोचता था। अब विचार लिया है कि एक बार साफ़ कह देना होगा कि तुम मेरी बुआ हो!"

उन्होंने एकाएक दोनों कानोंको हाथोंसे ढाँपकर कहा—न, न, भाई, ना। कभी नहीं—

मैंने कहा—मैं छल नहीं कर सकता। विवाहके मामलेमें तो छल कर ही नहीं सकता। यह जीवन-भरका संबंध है। क्या उसे झूठपर खड़ा करूँ?

बुआने कहा—झूठ तो, भाई, आज यह है कि मैं तेरी कोई भी हूँ। बता, मै आज तेरी कोई क्या हूँ? कभी यह सत्य था कि मैं तेरी बुआ थी; पर उस बातको तो मैंने अपने हाथोंसे अच्छी तरह तोड़-ताड़कर धूलमें फटक दिया है। धूलमेंसे उठाकर, उसीके निर्जीव, छूछे पिंजरको तू हठपूर्वक सामने लाकर सत्य कहना चाहता है, यही झूठ है। मैं कहती हूँ, प्रमोद, मुझे मेरे भाग्यपर छोड़। जा, जा, अब भी यहाँ मत ठहर। देर तक यहाँ रहेगा तो ठीक न होगा।

उस समय भीतर ही भीतर सचमुच मुझे भी यह मालूम हो रहा था कि यहाँ देरतक मेरा रहना ठीक न होगा; लोग जाने क्या समझे। मैं आज इसीपर आश्चर्य किया करता हूँ कि 'लोग क्या समझेंगे,' इसका बोझ अपने ऊपर लेकर हम क्यों अपनी चालको सीधा नहीं रखते है, क्यों उसे तिरछा आड़ा बनानेकी कोशिश करते है! लोगोंके अपने मुँह हैं, अपनी समझके अनुसार वे कुछ कुछ क्यों न कहेगे? इसमें उनको क्या बाधा है? उनपर किसीका क्या आरोप हो सकता है? फिर भी उस सबका बोझ आदमी अपने ऊपर स्वीकार कर अपने भीतरके सत्यको अस्वीकार करता है—यह उसकी कैसी भारी मूर्खता है!

मुझे वहाँ दो रोज़ हो गये। सबने देखा कि मास्टरनीसे

मेरा परिचय है और बढ़ रहा है। मामूली तौरपर इसपर किसीका विशेष ध्यान नहीं गया। बल्कि लोग मास्टरनीसे इतने संतुष्ट थे कि मेरा उधर झुकना उन्हें अच्छा भी मालूम हुआ। वे दिन हँसी-खुशीमें बीते। बुआके बारेमें भी मेरी चिन्ता एक तरहसे कम हुई। दो-चार उनका हाल-चाल पूछनेवाले हैं, रोटीकी गुज़र हो जाती है—चलो, इतनी भी खैर है। मुझसे लोग प्रसन्न मालूम होते थे। वहाँ बच्चोंसे मेरी खूब पट गई थी। साले-सालियाँ नये नातेसे मुझे पुकारने लगे थे। राजनंदिनी दो-एक बार सामने पड़ी तो सिंदूरिया हो हो गई और पलके आगे दूसरा पल वहाँ नहीं ठहरी, भाग गई। टीका हुआ और रुपये-नारियल मैंने भेंटमे पाये। तब भी मेरा चित्त भीतर कहीं संदिग्ध भी था। पूरी तरह वह खिल नहीं आ रहा था। कहीं भीतर इस बातपर मैं दबा आता था कि सचाई मै खोल नहीं रहा हूँ। वह दबाव इतना हो गया कि जब चलनेका समय आया तब मैंने डाक्टर साहबसे मानों चुनौतीके साथ कह दिया कि मास्टरनी मेरी बुआ हैं।

उन्होंने इस बातको स्वाभाविक भावसे सुन लिया और कुतूहलसे अधिक कोई और भाव प्रकट नहीं किया। मैने उनको सारी बात कह सुनाई और कह दिया कि वह अच्छी तरह सोच-समझ लें। बुआको मैं बुआ मानता हूँ, और मानूँगा।

डाक्टर साहब मेरी ओर कुतूहलसे देखते रहे। बोले—ठीक तो है। इसमें बुराई क्या है? इसमे मेरे लिए खास तौरसे सोचने-समझनेकी क्या बात है? आई हैव यू। व्हाट् मोर डु आई वाण्ट!

मुझे सचमुच अपने मनके व्यर्थ द्वंद्वपर लज्जा आई। मैं खुशी खुशी वहाँसे विदा हुआ। राजनंदिनीने एक गुप्त भेंट और अनन्य विश्वाससे मुझे अनुग्रहीत किया था।

पर विधि-लीला! स्थितिमें तनाव आया और मेरे झुकने-पर भी वह न सँभली। रिश्ता टूट गया। सास, 'राजनंदिनीकी माता' दृढ़तासे उसके प्रतिकूल थी और बिरादरीको भी उसमें आपत्ति थी। डाक्टर साहबको उसके टूटनेकी बहुत ग्लानि थी। उनसे मेरे अन्त तक संबंध बने रहे और वे मुझे पत्रोंमें सदा अपना पुत्र ही लिखते रहे। नंदिनीके दूसरे विवाह-पर उन्होंने बहुत असंतोष भी प्रकट किया और कदाचित् उसका कुछ दुष्परिणाम भी सुननेमें आया था। ख़ैर, वह जो हो, न बिरादरीसे और न अपनी भार्यासे कुछ उनकी पार बस आई।

सो तो हुआ, लेकिन फिर बुआको भी उस नौकरीपर नहीं रहने दिया गया। ट्यूशन तो छूट ही गई।

इस खबरको सुनकर मैं एकाएक चिन्तामें पड़ गया। चिट्ठी दी, तार दिया, पर जानेका सुभीता न पा सका। लेकिन जाने वह चिट्ठी-तार किस कुएँमें गये। यह पता अवश्य लगा कि बुआ वह जगह छोड़ गई हैं। छोड़कर कहाँ गई हैं? राम जाने। इस दुनियामें क्या जगह उनकी है कि जहाँ जायँ? कोई ऐसी जगह नहीं है। इस लिए आज तो सब जगह उनकी अपनी है। सब एक समान है।

८

बहुत हो गया। अब समाप्त करूँ। ज़िंदगी कहानी है और बुआकी कहानीमें भी अब सार नहीं बचा है।

घटनाएँ होती हैं, होकर चली जाती हैं। हम जीते हैं, और जीते जीते एक रोज़ मर जाते हैं। जीना किस हौंससे आरंभ करते हैं। पर उस जीवनके इस किनारे आते-आते कैसी ऊब, कैसी उकताहट जीमें भर जाती है। मैं इस लीलापर, इस प्रहेलिकापर सोचता रह जाता हूँ। कुछ पार नहीं मिलता, कुछ भेद नहीं पाता।

समंदर है। अपनी नन्ही-नन्ही कागज़की डोंगी लिये हम भी उसके किनारे-किनारे खेलनेके लिए आ उतरे हैं। पर किनारे ही कुशल है, आगे थाह नहीं है। हिम्मतवाले आगे भी बढ़ते हैं। बहुत डूबते हैं, कुछ तैरते भी दीखते हैं। पर अधिकतर तो किनारेपर साँस लेने-भर जगहके लिए छीन झपट और हाय-हाय मचानेमें लगे हैं। नहीं तो वे और करें भी क्या। लड़ते-झगड़ते अपने छोटे-से वृत्तकी परिधिमें घूम लेते हैं और इस भाँति जी लेते हैं। सागर तीनों ओर कैसे उल्लाससे लहरा रहा है। पर वह लहराता रहे,—हमें अपने धंधे हैं, उधर करनेको हमारी आँख ख़ाली नहीं है।

और कैसे करें उधर आँख? उस सागरकी लहरोंका अन्त कहाँ है? कूल कहाँ है? पार कहाँ है? कहीं पार नहीं है, कहीं किनारा नहीं है। आँखको ठहरनेके लिए कोई सहारा नहीं है। क्षितिजका छोर है, जहाँ आस्मान समंदरसे आ मिला

है। वहाँ नीला अँधियारा दीखता है। पर छोर वहाँ भी नहीं है। वहाँ छोर तो हमारी अपनी ही दृष्टिका है, अन्यथा वहाँ भी वैसी ही अकूल विस्तीर्णता है।

ओः, उधर हम न बढ़ें, न बढ़ें। वहाँ थाह नहीं है। जल अगम है। सुनने बोलनेको वहाँ कौन हैं? जो हैं, अपने-पराए सब, आस पास तक हैं। वहाँ तो सन्नाटा ही सनसनाता है। ना, उधर न बढ़ेंगे, न बढ़ेंगे।

किनारेपर ही रहें, जहाँ पैर धरतीसे छू जाते हैं। वहीं तक रहें जहाँ हमारा लंगर धरतीको पकड़ ले और हम ठहर सकें। बस, बस। उसके आगे जब तब समंदरके अगाध फैलावकी ओर हम देख लिया करें, यही क्या कम है। इतना भी बहुत है, बहुत है। इससे भी भीतर कंप भर आता है। चित्त सहम जाता है। सिर चकरा आता है। झेला नहीं जाता। जितनी झेल सकें उतनी ही उस विराट्की झाँकी ले लें और फिर अपनी धरतीके पास-पास किनारे-किनारे सबसे उलझते-सुलझते जिये चलें। यही उपाय है। यही मानव-जीवन है।

बुआ दो हाथ बढ़ाकर क्यों अगम जलमें जा उतरीं? वहाँ पैर टेकनेकी धरती पास न थी। किस साहसपर वह ऐसा कर सकीं? मैंने किनारे खड़े-खड़े पुकारकर कहा—

"यहाँ आ जाओ, यहाँ आ जाओ। मैं यहाँ हूँ। मैं तुम्हारा भतीजा हूँ। मैं प्रमोद हूँ। वही हूँ जिसे तुम प्यार करती थीं। यहाँ आ जाओ, यहाँ आ जाओ। यहाँ तुम्हें हम

सब मिलेंगे। यहाँ मज़बूत धरती है। यहाँ कोई कठिनाई नहीं है। यहाँ कुशल-क्षेम निश्चित है, सुलभ है। लहरोंका डर नहीं है, यहाँ सूखी धरती है।"

बूआ डूब-उतरा रहीं थी। तैरनेका कब अभ्यास किया था। और वहाँ किस तैराककी छाती है कि बढ़े। दम वहाँ फूल आता है। लेकिन बुआने कहा—

"नहीं, प्रमोद, नहीं। तुम मेरे वही प्रमोद हो। क्या मैं भूली हूँ। लेकिन किनारा छूटा सो छूटा। मैं यहाँ थक कर डूब भी गई तो क्या बुराई है। आखिर क्या इस समंदरके पेटमें ही हम सबकी जगह नहीं है। प्रमोद, मेरा प्रेम लो। पर तुम जानते नहीं हो। जहाँ पैर नहीं टिकता, तैरा वहीं जाता है। बिना तैरे मै नहीं रह सकती। क्या एक बार अथाहमें आकर फिर लौटूँ? नहीं, ऐसी अभागिनी मैं नहीं बनूँगी।"

मैंने रस्सी फेंकी। उन्होंने उसे नहीं पकड़ा और हँस दिया। कहा—प्रमोद, मै तुम्हारी बड़ी कृतज्ञ हूँ!

मैंने चिल्लाकर कहा—तुम मुझे प्रेम नहीं करती हो! करती हो तो आ जाओ।

उन्होंने डूबते-उतराते कहा—मैं तुम्हें बहुत प्रेम करती हूँ। करती हूँ, इसीसे अपने पास नहीं बुला सकती। और आ तो सकती ही नहीं। देखो, कितना समंदर आगे पड़ा है। सब पार करना है।

मैंने रोषमें कहा—जाओ, मैं अब तुम्हें न देखूँगा।

उन्होंने कहा—नहीं ही देखना चाहिए। ज़्यादह देखनेसे किनारेसे पैर उखड़ आनेका डर है।

मैंने चीख़कर कहा—जाओ, डूबो, मरो।

उन्होंने हँसकर कहा—मेरा डूबना-मरना भी इतना आसान नहीं है, भाई। अभी जाने कितने थपेड़े और खाने हैं। लेकिन तुम उन थपेड़ोंसे दूर हो, यही प्रसन्नता है। मैं तुम्हें प्रेम करती हूँ, इसीसे कहती हूँ।

....अंतिम बार जब मैं उन्हें मिला मैं वकील था, उनकी हालत दर्दनाक थी। वह बीमार थीं और एक कोठरीमें पड़ी थीं। औषध और पथ्यकी कोई व्यवस्था न थी। आस-पासके कुछ लोगोंकी सहानुभूति उन्हें प्राप्त थी, पर ये लोग उस वर्गके थे जिनकी सहानुभूतिकी क़ीमत पैसेके तलपर नहींके बराबर हो जाती है। इस बारका बड़ा आश्चर्य यह था कि उन्होंने मुझे स्वयं पत्र लिखा था। मेरी माँका देहान्त हो चुका था। इसकी ख़बर उन्हें देरसे लगी, पर लगते ही वह पत्र उन्होंने मुझे लिखा था। उस पत्रको कितनी बार मैंने नहीं पढ़ा है। पढ़ता हूं, और पढ़कर रह जाता हूँ। सोचता हूँ—पर नहीं, कुछ नहीं सोचता। वह सब जाने दो। लिखा था—

“ प्रमोद, माता सौभाग्य होती है। मैं तो जनमकी वंचिता ठहरी। पर उन स्वर्गवासी आत्माकी सेवा मैं नहीं कर सकी, इसकी मुझे ग्लानि है। मेरे मनमें साध थी कि एक बार उनके जीतेजी उनकी क्षमा पाऊँगी। वह होनेको न था। खैर, अपने भाग्यका दोष अपनेको ही दे सकती हूँ।

" प्रमोद, तुम नाराज़ होगे, इस लिए मैंने ऊपर अपना पता भी लिख दिया है। मैं जानती हूँ, तुम आओगे। जानती हूँ, मेरी पहली जगह भी तुमने खोज-ख़बर की होगी। चिट्ठी-तार तुमने क्यों दिये थे, वे सब वृथा थे। लेकिन उन बातोंको छोड़ो। मुझे छोड़ो। जीवन एक परीक्षा है। कमसे कम मैंने तो उसको यही बना लिया है। तुम आओगे, तो आ जाना। लेकिन मुझसे किसी बातकी उम्मीद न करना। जिन लोगोंके बीच बसी हूँ वे समाजकी जूठन हैं। जूठन हैं और कौन जानता है कि वे जूठन होने योग्य भी नहीं हैं। लेकिन आखिर तो इन्सान हैं। और यह बात, जब कि उनके बीच आ पड़ी हूँ, मैं साफ़ देखती हूँ। मैं किसी भी और बातपर ज़िंदा रहना नहीं चाहती; उनकी बुझती और जगती इन्सानियतके भरोसे ही रहना चाहती हूँ। दर-दर भटकी हूँ और मैंने सीखा है कि इन दुर्जन लोगोंकी सद्भावनाके सिवा मेरी कुछ और पूँजी नहीं हो सकती। किसी और बातके लिए जीनेकी मुझमें अब साध भी नहीं रह गई है। मुझको ऐसा अनुभव हो रहा है कि इन लोगोंमें जिन्हें दुर्जन कहा जाता है, कई तह पार कर वह भी तह रहती है कि उसको छू सको तो दूध-सी श्वेत सद्भावनाका सोता ही फूट निकलता है। इसीसे अब यह प्रतीति मेरे लिए उतनी कठिन नहीं रह गई है कि सबके अभ्यंतरमें परमात्मा है। वह सर्वान्तर्यामी है, सर्वव्यापी है। इसीसे मैं अभी यहाँसे टूटकर उखड़ना नहीं चाहती। क्यों चाहूँ? कहाँ सब कुछ नहीं है?

" 'यहाँका लाभ ?'—तुम पूछोगे। लाभ बहुत है। यहाँ किसीको यह कहनेका लोभ नहीं है कि मैं सच्चरित्र हूँ। यहाँ सच्चरित्रताके अर्थमें मानवका मूल्य नहीं जाना जाता। दुर्जनता ही मानों क़ीमती है। यहाँ उसी हिसाबसे मानवकी घट-बढ़ क़ीमत है। मैं मानती हूँ कि यही रोग है, यही भयानक जड़ता है। किन्तु यही लाभदायक भी है। इस जगह आकर यह असंभव है कि कोई अपनेको सच्चरित्र दिखाए, दिखाना चाहे, या दिखा सके। यहाँ सदाचारका कुछ मूल्य ही नहीं है, अपेक्षा ही नहीं है। बल्कि ऋण मूल्य है। अगर कहीं भीतर, बहुत भीतर मज्जातकमें छिपा पशुताका कीड़ा है तो यहाँ वह ऊपर आ रहेगा। यहाँ छल असंभव है, जो छल कि सभ्य समाजमें ज़रूरी ही है। यहाँ तहज़ीबकी माँग नहीं है, सभ्यताकी आशा नहीं है। बेहयाई जितनी उघड़ी सामने आवे उतनी यहाँ रसीली बनती है। बर्बरताको लाजका आवरण नहीं चाहिए। मनुष्य यहाँ खुलकर पशु हो सकता है। जो नहीं हो सकता, उसकी मनुष्यतामें बट्टा समझा जाता है। इस लिए सच्चरित्र दीखनेवाला यहाँ नहीं टिक सकता। उसे मज्जा मज्जातक सच्चा होना होगा, तभी ख़ैरियत है। जो बाहर हो, वही भीतर हो। भीतर पशु हो तो इस जल-वायुमें आकर बाहरकी मनुष्यता एक क्षण नहीं ठहरेगी। मनुष्य हो, तो भीतरतक मनुष्य होना होगा। क़लईवाला सदाचार यहाँ खुलकर उघड़ रहता है। यहाँ खरा कंचन ही टिक सकता है, क्योंकि उसे ज़रूरत ही नहीं कि

वह कहे कि मैं पीतल नहीं हूँ। यहाँ कंचनकी माँग नहीं है, पीतलसे घबराहट नहीं है। इससे भीतर पीतल रखकर ऊपर कंचन दीखनेका लोभ यहाँ छुन-भर नहीं टिकता है। बल्कि यहाँ पीतलका ही मूल्य है। इसीसे सोनेके धैर्यकी यहाँ परीक्षा है। सच्चे कंचनकी पक्की परख यहीं होगी। यह यहाँकी कसौटी है। मैं मानती हूँ कि जो इस कसौटीपर खरा हो सकता है, वही खरा है। और वही प्रभुका प्यारा हो सकता है।

"प्रमोद, तुम नहीं समझोगे। पर तुम न आओ तो ही अच्छा हो। तुम्हारा स्वभाव कोमल है। तुम ऊँचे विचारोंमें रहते हो। यहाँ कोमलता और उच्चता नहीं है। यहाँ गंदगी है और जड़ता है। मैं उसमें साँस लेकर रह लेती हूँ, क्योंकि आदी हो गई हूँ। हो सकता है कि मनकी उच्च और कोमल वृत्तियाँ भी मेरी मंद पड़ गई हों। जो हो, पर तुम न आओ तो ही भला है। तुम्हारा प्रेम खोना मुझे असह्य होगा। अगर अब भद्र-वर्गके लोगोंमेंसे मैं किसीको जानती हूँ तो तुम्हें जानती हूँ। न अब मुझे ही कोई जानता है। पर तुम्हारे अकेलेके कारण मैं उस तमाम भद्र-वर्गको अप्रेम करनेसे बची हुई हूँ। प्रमोद, तुम नहीं जानते, अनजानमें तुम मेरी आत्माका यह कितना बड़ा उपकार कर रहे हो। जिस समाजमें तुम हो, क्या तुम्हारे रहते मैं मनमें उसके लिए तिरस्कार भी ला सकती हूँ? कभी कभी वह तिरस्कार मेरे मनमें ज़ोरोंसे उठता है, लेकिन तुम्हारे प्रेमका स्मरण करके

मैं भीगी हो आती हूँ और मनकी कटु भावना मेरे स्वास्थ्यको नष्ट नहीं कर पाती। कटुता आती है और तुम्हारे स्पर्शसे मैं उसे बल बना लेती हूँ। तुम्हारा प्रेम मुझे स्वच्छ रखता है। पर डर है कि तुम यहाँ आओ और कहीं बचा-खुचा तुम्हारा प्रेम भी मेरे हाथोंसे जाता रहे! तब मेरा क्या हाल होगा? जीना दूभर हो जायगा। मेरा बल गिर जायगा। श्रद्धा थमेगी कैसे? कल्मष ही तब सब ओरसे घेरकर मुझे छा लेगा। तब इस ज़िंदगीके बीच किस एक सूतके सहारे मैं टिकूँगी? अब तो मनको ऊँचा उठाकर साफ हवा फेंफड़ोंमें भर लेती हूँ और इस विषाक्त वातावरणमें सहज भावसे लिये चलती हूँ। वह न रहा तब मैं कैसे टिकूँगी। मर जाऊँगी, इसका सोच नहीं है। पर जीवनकी टेक हाथसे छूट जायगी, यह तो बहुत बड़ा भय है। श्रद्धाके साथ मरना भी सार्थक है। पर श्रद्धा गई तो पास क्या रह गया? इसीसे कहती हूँ कि तुम दूर दूर रहो। अब जहाँ हूँ, वहाँ न आओ। जिस जगह हूँ वह जगह तुम्हारे देखने योग्य नहीं है। और तुम्हारे भरोसे मै यहाँकी होकर भी यहाँकी नहीं हूँ। इससे तुम न आना, न आना। आओगे तो—तुम जानो।

"कैसे इतना बड़ा पत्र लिख गई, और क्यों, नहीं जानती। यह जानती हूँ कि तुम्हारे सिवा किसी औरको ये बातें नहीं लिख सकती थी, उन बातोंको सोचकर समझ भी नहीं सकती थी।

"प्रमोद, यह असंभव न जानना कि मैं तुम्हें पुकारूँ और कहूँ, मुझे उबार लो। जब मेरे भीतरकी श्रद्धा टूटेगी, तभी मैं तुम्हें आवाज़ दे दूँगी। इस मेरे वचनपर तुम मेरे पास अभी न आना। मैं तुमसे कहती हूँ।—"

पर, मैं समाप्त करना चाहता हूँ। व्यथा क्यों बढ़ाऊँ। जहाँ और जिस अवस्थामें मैंने बुआको पाया, उसका वर्णन करते दुख होता है। वर्णन नहीं करूँगा। बुआके इस पत्रसे उसका अनुमान किंचित् भी नहीं किया जा सकता। जहाँ नगरकी सड़ाँद रहती है, वहाँ वह रहती थीं। अधेड़ अवस्था-की वेश्याएँ, बेकार मजूर, पेशेवर भिखमंगे, कानूनकी आँख और चंगुलसे बचकर छिपे-उघड़े काम करनेवाले उचक्के लोगोंके रहनेकी वह जगह थी। बुआ वहाँ कैसे आ पड़ीं? वह बीमार थीं, खटियासे लगी पड़ी थीं। चार-पाँच ऊपरके वर्णनके स्त्री-पुरुष आसपास थे। उनके चेहरेपर बुआकी अवस्थाके लिए आग्रह और चिन्ता लिखी थी। वे परेशान मालूम होते थे। पर बात वे बड़ी लापर्वाहीके साथ करते थे और उन बातोंके खुलेपनसे जीमें मानों मेरे मितली चढ़ती थी। बुआके प्रति यद्यपि उनका आदर प्रकट था पर उनके लिए सभी 'तू' और 'इस' का व्यवहार करते थे। हया-शर्म वहाँ न थी और उस बुआकी खाटके पास भी उनमें आपसमें भद्दे इशारे हुए बिना न रहते थे। उन्होंने मुझ अपरिचितको बीचमें पाकर हर्ष प्रकट नहीं किया। मानों मैं कोई विदेशी जन्तु था, अविश्वसनीय और भयावह। यह

उनमेंसे बहुतोंको निश्चय था कि खाटपर पड़ी हुई उनकी परिचिता रोगिणीका मैं कोई पहला प्रेमी हूँ और मैं ही उनकी इस हालतका ज़िम्मेदार हूँ। उन्होंने ऐसे खुलकर ये संदेह प्रकट किये कि मैं अन्दर ही अन्दर सिमिटकर रह गया, कुछ भी न कह सका।

बुआ सब सुनती थीं और धीरजसे सब सहती थीं। कभी किसीको अभद्रतापर डपट भी देती थीं और उनकी डपट कारगर भी होती थी। लेकिन अधिकतर वह उस ओरसे उदासीन रहती थीं।

मैंने कहा—बुआ, अब चलो। बस मैं लिवाने आया हूँ।

"कहाँ ले चलेगा ?"

"अब तो घर मेरा अपना ही रह गया है, बुआ। ब्याह हो गया है। मेरी हुकूमत है। तीसरा कोई नहीं है। चलो अब तुम्हारा ही राज होगा।"

"इस बुढ़ापेमें चलूँ ?"

"हाँ, हाँ, बुढ़ापेमें ही तो चलो। बुढ़ापेमें ही तुम्हें आराम नहीं दे सकूँगा तो फिर कब दूँगा। मैं कुछ नहीं जानता। मैं तुम्हें पक्की बात कहता हूँ कि मेरी वकालत अच्छी चल जायगी। कोई फ़िक्र नहीं है, बुआ। अफ़सर दोस्त होते जाते हैं। मैं किसी सालेकी परवाह नहीं करता।"

बुआ चुप सुनती रहीं। बोलीं—

"प्रमोद, तुमने महाभारत तो पढ़ा है न। युधिष्ठिरजी स्वर्ग गये थे तो कुत्तेको नहीं छोड़ गये थे। यह बता, तेरा

घर कितना बड़ा है,—इन सबको ले चलेगा? ये कुत्ते नहीं हैं और इनका मुझपर बड़ा उपकार है।"

मैंने अपने मनको हठात् थामकर कहा—कैसी बहकी बहकी बातें करती हो, बुआ। आखिर मैं कोई भी न ठहरा। देखता हूँ, मैं कैसे तुम्हें नहीं ले चलूँगा।

बुआने अविचलित भावसे मुस्करा कर कहा—मैं कब मना करती हूँ। अच्छा, तू ज़रूर ले चलेगा?

"ज़रूर ले चलूँगा।"

"सुन। ज़रूर ही ले चलेगा?"

"हाँ, हाँ, कह तो रहा हूँ, ज़रूर ज़रूर ले चलूँगा।"

बुआने कहा—तो यह बता तेरे पास बहुत रुपया है? कितना रुपया है?

मैंने कहा—रुपया!

बोली—जितना दे सके, मुझे दे जा। फिर तो मैं तेरे घर गई बराबर हूँ। हूँ कि नहीं? अब बोल—

मैं आश्चर्यसे उनकी ओर देखता रहा। कुछ कहनेके लिए कहा—

"रुपयेका क्या करोगी?"

बोलीं—क्या करूँगी, यह तो अभी नहीं जानती हूँ। पर पहले तो तेरे चित्तका भरम मिट जायगा कि मैं तेरी सहायता नहीं चाहती हूँ। फिर रुपया छोड़नेमें तेरा अपना भी भला है। खूब कमा और कमा कर सब इस गड्ढेमें ला पटका कर। सुना कि नहीं? रुपयेके ज़ोरसे यह नरक-कुण्ड

स्वर्ग बन सकता है, ऐसा तो मैं नहीं जानती। फिर भी रुपया कुछ न कुछ काम आ सकता है।

वह बात मेरी बिल्कुल समझमें न आई। मैंने उसको टालकर कहा—

" चलो, तुम्हें यहाँके अस्पतालमें करा दूँ। "

उन्होंने कहा—जो बात मैंने कही वह तेरी समझमें नहीं आई न। चलो, ठीक है। नहीं भाई, अस्पतालमें क्यों जाऊँगी?

मैंने बताया—अस्पतालमें इन्तज़ाम ठीक हो जायगा। प्राइवेट वार्डमें कर दूँगा। ख़र्चकी फ़िक्र कुछ मत करो, बुआ। "

बुआने बीचमें टोककर कहा—

" लेकिन वही तो फ़िक्र मुझे है, प्रमोद। तुम बहुत-सा रुपया दे जाओ तो क्या अस्पतालके प्राइवेट वार्डमें दौड़कर मैं चली जाने वाली हूँ? प्रमोद, देह है, तब तक दस बीमारियाँ लगी हैं। घबराहट किस बातकी है! "

बातको क्यों बढ़ाऊँ। उसमें मेरी ही कापुरुषता बढ़ी हुई दीखेगी। सार यही कि मैं उनको नहीं पा सका, नहीं ला सका। पथ्य आदिकी भी कोई विशेष व्यवस्था कर सका, यह भी नहीं कह सकता। एक स्थानीय परिचित वकील मित्रको सौ-दोसौ जाने कितने रुपये दे आया था और कह आया था कि ध्यान रखना। उन्होंने ध्यान तो रक्खा होगा, पैसा भी

खर्चा होगा। पर वह ध्यान और वह खर्च वाजिबी-ही-वाजिब किया गया होगा, यह भी निश्चय है।

परिणाम यह है कि मैं बहुत नाराज़ होकर, बहुत चुनौती-भरी बातें कहकर, बहुत ताक़ीद और नसीहतें देकर वहाँसे चला आया।

चला आया कि फिर नहीं गया और आकर ऐसा वकालतमें चिपट गया कि किसी बातके लिए आँखें खुली न रहें, कुछ भी और न देखें। अपने सामनेका स्वार्थ देखें, और बस।

पर क्यों? क्यों बुआकी माँग मुझसे पूरी नहीं हुई? उन्होंने इतना प्रेम किया, इतना विश्वास किया, और जब एक सवाल मुझसे किया तब उसके जवाबमें अपना धन मुझसे क्यों नहीं बहा डाला गया? क्यों मेरी मुट्ठी मिंच गई? यह भी हुआ, तो फिर क्यों उसके बाद मेरी आत्मा तापसे संतप्त नहीं रही? क्यों? क्यों?

इस 'क्यों' का उत्तर मैं अब देता हूँ। उत्तर है कि,—मैं क्षुद्र था।

क्यों वकालतमें आँख गाड़कर खुद फूलनेमें लगा रहा? क्यों मनमें मानता रहा कि मैं ठीक हूँ? क्यों कर्तव्यको दबाता रहा और अकर्तव्य करता रहा?

उत्तर है कि मैं बुद्धिमान् था, मूर्ख नहीं था। तोल-तोलकर चला और तराज़ू अपने हाथमें रक्खी।

इसीलिए आज जो असली तराज़ू है उसमें हलका तुल

रहा हूँ। आज इस सारी वकालतके पैसे और बुद्धिमत्ताकी प्रतिष्ठाके ऊपर बैठकर सोचता हूँ कि क्यों मुझसे तनिक मूर्ख नहीं बना गया ? इस सब रुपयेको और प्रतिष्ठाको अब मैं पेटसे बाँधकर कहाँ ले जाऊँ ? इस सबका मैं क्या करूँ, जब कि समयपर प्रेमके प्रतिदानसे मैं चूक गया। यह सब मैल है जो मैंने बटोरा है। मैल है, कि मेरी आत्माकी ज्योतिको ढँक रहा है। मैं वह सब नहीं चाहता हूँ।

उस बातको सत्रहसे कुछ ऊपर ही वर्ष हो गये हैं। आज महाश्चर्य और महासंतापका विषय मेरे लिए यह है कि किस अमानुषिकताके साथ ये सत्रहके सत्रह वर्ष मैं बुआको बिना देखे काट गया ! वह बुआ जिन्होंने बिना लिये दिया। जिन्होंने कुछ किया, मुझे प्रेम ही किया। जिनकी याद मेरे भीतर अब अँगार-सी जलती है। जिनका जीवन कुछ हो, ऊपर उठती लौकी भाँति जलता रहा। धुआँ उठा तो उठा, पर लौ प्रकाशित रही। उन्हीं बुआको एक तरफ़ डालकर मैं किस भाँति अपनी प्रतारणा करता रहा ?

आज दिन है कि खबर आती है कि वह मर गई ! कैसे मर गई—जाननेकी कोई ज़रूरत नहीं है। जो जाने बैठा हूँ, वही कम नहीं है। उसीको पचा सकूँ, तो कुछका कुछ हो जाऊँ।

बुआ, तुम गई। तुम्हारे जीते जी मैं राहपर न आया। अब सुनो, मैं यह जजी छोड़ता हूँ। जगत्का आरंभ-

समारंभ ही छोड़ दूँगा। औरोंके लिए रहना तो शायद नये सिरेसे मुझसे सीखा न जाय। आदतें पक गई हैं। पर अपने लिए तो उतनी ही स्वल्पतासे रहूँगा जितना अनिवार्य होगा। यह वचन देता हूँ।

भगवान्, तुम मेरी बात सुनते हो। वैसे चाहे न भी दो, पर वचन तोड़ूँ तो मुझे नरक अवश्य ही देना।

(ह०) एम० दयाल

ता० ३-४-

पुनश्च—इसीके साथ सही करता हूँ कि जजीसे अपना त्याग-पत्र मैंने दाख़िल कर दिया है।

एम० डी०

ता० ४-४-